प्रथमावृत्ति
१०००

वीर संवत् २४९४
विक्रम संवत् २०२५
ईस्वी सन् १९६८

स्वल्प मूल्य ०—६०

मुद्रक—श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस सैलाना (म. प्र.)

प्रकाशकीय निवेदन

जीवादि नौ पदार्थ तत्वज्ञान है। तत्वज्ञान पा कर मनुष्य हेयोपादेय समझ सकता है और आचरण में ला कर परम सुखी बन सकता है। मनुष्य, लौकिक विद्या कितनी ही पढ़े, उच्चतम कही जाने वाली परीक्षाएँ, उच्चतम श्रेणी से पास कर, उच्चतम पद एवं अलंकार से अलंकृत होनेवाला व्यक्ति, आत्मिक दृष्टि से तबतक अज्ञानी माना जाता है, जबतक कि वह तत्वज्ञानी न हो जाय—तात्त्विक श्रद्धा से सम्पन्न न हो जाय। जिनोपदिष्ट नौ तत्वों में लोकालोक का स्वरूप और उत्थान-पतन के कारणों का ज्ञान कराया गया है। प्रत्येक जैन को नव तत्त्व का ज्ञान करना ही चाहिए। यदि विस्तार से कर सकें, तो बहुत ही अच्छा। जितना अधिक जानेगा, उतना अधिक पाएगा और चिन्तन-मनन से ज्ञानावरण का क्षयोपशम होते हुए परोक्ष ज्ञानी से प्रत्यक्ष ज्ञानी होने की स्थिति बनती जायगी। लौकिकज्ञान इस जीवन में भौतिक लाभ एवं मान-सम्मान करा सकता है, किन्तु भावी जीवन निर्मल नहीं बना सकता, इतना ही नहीं, प्रायः पतन एवं महापतन में गिरा देता है, तब तत्त्वज्ञान का अध्ययन इस जीवन और भविष्य के (शरीर परिवर्तन के बाद के) जीवन का भी उत्थान करता है, सुखी बनाता है। जैन कुल में जन्म लेकर और जैनी कहलाकर, जैन तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ रहना, मनुष्य के लिए शोभनीय नहीं है।

'नवतत्वों का स्वरूप' नामक पुस्तक [illegible] वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। उसके लेखक—पं. श्री भँवरचंदजी सा. [illegible], न्याय-व्याकरणतीर्थ जैनसिद्धान्त शास्त्री थे। और श्रीमान् सेठ [illegible] हुंडिया [illegible] निवासी ने प्रकाशित करवाई थी। किन्तु वह अप्राप्य थी। इसका प्रकाशन होना आवश्यक ही था। दिन-दूर [illegible]

संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का ३२ वां रत्न

नव तत्त्व

तत्त्व—वस्तु के वास्तविक स्वरूप को 'तत्त्व' कहते हैं। तत्त्व नौ हैं। यथा—१ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आस्रव ६ संवर ७ निर्जरा ८ बन्ध और ९ मोक्ष।

जीव—जिसमें उपयोग (ज्ञानशक्ति) हो। जीव सुख, दुःख, पुण्य और पाप का कर्त्ता और भोक्ता है। वह अतीत अनागत और वर्तमान—तीनों काल में सदा शाश्वत रहता है। वह अमर है, उसका कभी विनाश नहीं होता।

अजीव—जो चैतन्य रहित (जड़) हो। अजीव को सुख दुःख नहीं होता। वह पुण्य पाप का कर्त्ता और भोक्ता भी नहीं है।

पुण्य—जिसके उदय से जीव को सुख की प्राप्ति हो तथा जिससे आत्मा पवित्र बने, उसे 'पुण्य' कहते हैं। पुण्य की प्रकृति शुभ होती है। पुण्य कठिनाई से बांधा जाता है और सुखपूर्वक

अपने स्वरूप में लीन हो जाना 'मोक्ष' कहलाता है।

हेय ज्ञेय और उपादेय

वैसे तो नव ही तत्त्व ज्ञेय हैं, क्योंकि ज्ञान किये बिना उनका स्वीकार और त्याग नहीं किया जा सकता, किन्तु दूसरी अपेक्षा से जीव अजीव और पुण्य + ये तीन ज्ञेय (जानने योग्य) हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष–ये तीन तत्त्व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं। पाप आस्रव और बन्ध–ये तीन हेय (छोड़ने योग्य) हैं।

रूपी अरूपी

पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध–ये चार रूपी हैं। जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष–ये चार अरूपी हैं। (जीव है तो अरूपी किन्तु संसारी जीव, कर्मों से युक्त है, अतएव जीव तत्त्व से मिश्र है।) अजीव तत्त्व के पांच भेद हैं, उनमें से धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल–ये चार तो अरूपी हैं और एक पुद्गलास्तिकाय रूपी है।

नव तत्त्व में जीव अजीव

चार जीव और पांच अजीव हैं। जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष–ये चार तो जीव हैं और अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध–ये पांच अजीव हैं। निश्चयदृष्टि से तो जीव तत्त्व ही जीव है और अजीव तत्त्व अजीव है, शेष सात तत्त्व, जीव अजीव की पर्याय हैं जैसे कि सोना मिट्टी में सोना चांदी है, वैसे ही जीव और अजीव के संयोग से सात तत्त्व उत्पन्न होते हैं।

+ अपेक्षा भेद से पुण्य को हेय भी कहा है–टीका।

और २ स्थावर ।

३ जीव के तीन भेद—१ स्त्रीवेद, २ पुरुष वेद और ३ नपुंसक वेद ।

४ जीव के चार भेद—१ नरक, २ तिर्यंच, ३ मनुष्य और ४ देव ।

५ जीव के पांच भेद—१ एकेंद्रिय, २ बेइन्द्रिय, ३ तेइन्द्रिय ४ चौरेन्द्रिय और ५ पंचेन्द्रिय ।

६ जीव के छह् भेद—१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेउकाय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय और ६ त्रसकाय ।

७ जीव के सात भेद—१ नरक, २ तिर्यंच, ३ तिर्यंचिनी, ४ मनुष्य, ५ मनुष्यिनी, ६ देव और ७ देवांगना ।

८ जीव के आठ भेद—चार गति के पर्याप्त जीव और अपर्याप्त जीव ।

९ जीव के नौ भेद—१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेउकाय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय, ६ बेइन्द्रिय, ७ तेइन्द्रिय, ८ चौरेन्द्रिय और ९ पंचेन्द्रिय ।

१० जीव के दस भेद—एकेंद्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—इन पांच के पर्याप्त और अपर्याप्त ।

११ जीव के ग्यारह भेद—उपरोक्त दस भेद और ग्यारहवां अनिन्द्रिय (सिद्ध भगवान्) ।

१२ जीव के बारह भेद—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छह् काय के पर्याप्त और अपर्याप्त ।

१३ जीव के तेरह भेद—छह काया के उपरोक्त बारह भेद और तेरहवां भेद अकायिक (सिद्ध भगवान्)।

१४ जीव के चौदह भेद-एकेंद्रिय के दो भेद—सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त। इस प्रकार एकेंद्रिय के चार भेद। ५–६ बेइन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। ७–८ तेइन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। ९–१० चौरीन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। ११–१४ पंचेन्द्रिय के ४ भेद-संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त।

त्रस—त्रास एवं भय तथा सर्दी गर्मी आदि से अपना बचाव करने के लिए जो जीव एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं, चल फिर सकते हैं, वे त्रस नाम-कर्म के उदय से 'त्रस' कहलाते हैं। जैसे-बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरीन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

स्थावर-जीव त्रास, भय, सर्दी, गर्मी आदि से अपना बचाव करने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकते, चल फिर नहीं सकते, वे जीव स्थावर नाम-कर्म के उदय से 'स्थावर' कहलाते हैं। जैसे—एकेंद्रिय जीव, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय वनस्पतिकाय।

जीव के उत्कृष्ट भेद ५६३ हैं। यथा—नारकी के १४ भेद, तिर्यंच के ४८, मनुष्य के ३०३ और देव के १९८ भेद। ये सब मिला कर ५६३ भेद होते हैं।

नारकी के चौदह भेद—१ घम्मा, २ वंशा, ३ सीला, ४ अंजना, ५ रिट्ठा, ६ मघा और ७ माघवई—ये सात नरकों के नाम हैं और १ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ बालुकाप्रभा, ४ पंकप्रभा, ५

धूमप्रभा, ६ तमःप्रभा और ७ तमस्तमःप्रभा—ये सात नरकों के गोत्र हैं। इन सात में रहनेवाले जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से नारक जीवों के १४ भेद होते हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि नाम का कारण—पहली नारकी में रत्नकाण्ड है, जिससे वहां रत्नों की प्रभा पड़ती है, इसलिए उसे 'रत्नप्रभा' कहते हैं। दूसरी नारकी में शर्करा अर्थात् तीखे पत्थरों के टुकड़ों की अधिकता है, इसलिए उसे 'शर्कराप्रभा' कहते हैं। तीसरी नारकी में वालुका अर्थात् बालू (रेत) अधिक है और वह भड़भुंजा की भाड़ से अनन्त गुण अधिक उष्ण है, इसलिए उसे 'वालुकाप्रभा' कहते हैं। चौथी नारकी में रक्त-मांस के कीचड़ की अधिकता है, इसलिए उसे 'पङ्कप्रभा' कहते हैं। पांचवी नारकी में धूम(धूआं)अधिक है और सोमल-खार से भी अनन्तगुण अधिक खारा है, इसलिए उसे 'धूम-प्रभा' कहते हैं। छठी नारकी में तमः (अंधकार) की अधिकता है, इसलिए उसे 'तमःप्रभा' कहते हैं। सातवीं नारकी में महात-मस् (गाढ़ अन्धकार) है, इसलिए उसे 'महातमःप्रभा' कहते हैं। इसको 'तमस्तमःप्रभा' भी कहते हैं, जिसका अर्थ है—जहां घोरतम अन्धकार है।

पहली रत्नप्रभा नरक का पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन का है। इसमें से एक हजार योजन की ऊपरी छत और एक हजार योजन की नीचे की भीत छोड़ देने पर बीच में एक लाख अठहत्तर हजार योजन की पोलार है। इसमें १३ पाथड़े और १२ आंतरे हैं। इसमें तीस लाख नरकावास हैं

और उनमें नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियाँ हैं। उनमें असंख्यात नैरयिक जीव हैं। पहली नरक के नीचे चार बोल हैं—१ बीस हजार योजन का घनोदधि है, २ असंख्यात योजन का घनवात है, ३ असंख्यात योजन का तनुवात है और ४ असंख्यात योजन का आकाश है। उसके नीचे दूसरी नरक है।

पाथड़ा—नरक के एक परदे के बाद जो स्थान होता है, उस तरह के स्थानों को 'पाथड़ा'—प्रस्तट अथवा प्रतर कहते हैं।

आंतरा—एक पाथड़े से दूसरे पाथड़े के बीच का जो स्थान है उसको आंतरा (अन्तर) कहते हैं।

दूसरी नरक का पिण्ड एक लाख बत्तीस हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोड़ देने पर बीच में एक लाख तीस हजार योजन की पोलार है। उसमें ११ पाथड़े और १० आंतरे हैं, उनमें पच्चीस लाख नरकावास हैं। उनमें नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। उनमें असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे पहली नरक की तरह घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। उसके नीचे तीसरी नरक है।

तीसरी नरक का पिण्ड एक लाख अट्ठाईस हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर बीच में एक लाख छब्बीस हजार योजन की पोलार है। उसमें ९ पाथड़े और ८ आंतरे हैं। उनमें पन्द्रह लाख नरकावास हैं। नैरयिक जीवों

के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। वहां असंख्यात नैरयिक जीव हैं। तीसरी नरक के नीचे, ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। इसके नीचे चौथी नरक है।

चौथी नरक का पिण्ड एक लाख बीस हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर, बीच में एक लाख अठारह हजार योजन की पोलार है। उसमें ७ पाथड़े और ६ आंतरे हैं। उनमें दस लाख नरकावास हैं। नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे, ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। उसके नीचे पांचवीं नरक है।

पांचवीं नरक का पिण्ड एक लाख अठारह हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन ठीकरी नीचे छोड़ देने पर, बीच में एक लाख सोलह हजार योजन की पोलार है। उसमें पांच पाथड़े और चार आंतरे हैं। उनमें तीन लाख नरकावास हैं। नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे, ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि घनवात, तनुवात और आकाश है। उसके नीचे छठी नरक है।

छठी नरक का पिण्ड एक लाख सोलह हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर, बीच में एक लाख

चौदह हजार योजन की पोलार है। उसमें तीन पाथड़े और दो आंतरे हैं। उनमें पांच कम एक लाख नरकावास हैं। नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे, ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। उसके नीचे सातवीं नरक है।

सातवी नरक का पिण्ड एक लाख आठ हजार योजन का है। उसमें से साढ़े बावन हजार योजन की ठीकरी ऊपर और साढ़े बावन हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर, बीच में तीन हजार योजन की पोलार है। उसमें केवल एक पाथड़ा है, आंतरा नहीं है। उसमें पांच नरकावास हैं। उसमें नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं उनमें असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे बीस हजार योजन का घनोदधि है, उसके नीचे असंख्यात योजन का घनवात है, उसके नीचे असंख्यात योजन का तनुवात है, उसके नीचे असंख्यात योजन का लोकाकाश है और उसके नीचे अनन्त अलोकाकाश है।

तिर्यञ्च के ४८ भेद

उत्कृष्ट स्थिति सण्हा (श्लक्ष्ण) पृथ्वी की एक हज़ार वर्ष, शुद्ध पृथ्वी की बारह हज़ार वर्ष, बालु पृथ्वी की चौदह हज़ार वर्ष, मनारा पृथ्वी की अठारह हज़ार वर्ष और खर पृथ्वी की बाईस हज़ार वर्ष की है। एक कंकर जितनी पृथ्वीकाय में असंख्याता जीव होते हैं। पृथ्वीकाय का वर्ण पीला है, स्वभाव कठोर है, संस्थान चन्द्रमा अथवा मसूर की दाल के समान है। एक पर्याप्त की नेश्राय में असंख्यात अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं।

४ अप्काय के चार भेद—सूक्ष्म और बादर, इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। अप्काय में—बरसात का पानी, ओस का पानी, नदी का पानी, समुद्र का पानी, धुंअर का पानी, कुआं, बावड़ी आदि का पानी। योनि सात लाख है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। एक पानी की बूंद में असंख्याता जीव हैं। अप्काय का वर्ण लाल है, स्वभाव ढीला है, संस्थान पानी के परपोटे (बुलबुले) के समान है। एक पर्याप्त के आश्रय में असंख्यात अपर्याप्त होते हैं।

४ तेउकाय के चार भेद—सूक्ष्म और बादर, इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। भाड़ की अग्नि, बिजली की अग्नि, सांग की अग्नि उल्कापात आदि। योनि सात लाख है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन दिन-रात की है। एक अग्नि की चिनगारी में असंख्याता जीव हैं। तेउकाय का वर्ण श्वेत और स्वभाव उष्ण है। संस्थान सुई के भारे के समान है। सुई की तरह अग्नि की ज्वाला नीचे से छोटी और ऊपर से मोटी होती है। एक पर्याप्त के आश्रय में असंख्यात अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं।

४ वायुकाय के चार भेद—सूक्ष्म और बादर, इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। उक्कलियावाय, मंडलियावाय, घनवाय, तनुवाय, पूर्ववाय, पश्चिमवाय आदि। योनि सात लाख है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की है। एक फूंक की वायु में असंख्याता जीव हैं। वायुकाय का वर्ण हरा है। स्वभाव चलना है। संस्थान ध्वजा (पताका) के आकार है।

६ वनस्पतिकाय के छह भेद—सूक्ष्म, प्रत्येक और साधारण, इन तीनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। प्रत्येक वनस्पतिकाय की योनि दस लाख है और साधारण वनस्पतिकाय की चौदह लाख है। वनस्पतिकाय का वर्ण काला है। स्वभाव और संस्थान नाना प्रकार का है। एक शरीर में एक जीव हो, उसे 'प्रत्येक वनस्पतिकाय' कहते हैं। जैसे—आम, अंगूर, केला, बड़, पीपल आदि। योनि दस लाख है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष है।

कन्दमूल की जाति को 'साधारण वनस्पतिकाय' कहते हैं। जैसे—लहसुन, सकरकन्द, अदरख, आलू, रतालू, गाजर, मूली, हरी हल्दी, मूंगफली, नीलण-फूलण आदि। योनि चौदह लाख है। उपर्युक्त कन्दमूल आदि साधारण वनस्पतिकाय में एक सूई के अग्रभाग में आवे उतने में असंख्याता श्रेणियां हैं। एक श्रेणि में असंख्याता प्रतर हैं। एक प्रतर में असंख्याता गोले हैं। एक एक गोले में असंख्याता शरीर हैं। एक-एक शरीर में अनन्त जीव हैं। स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय—

इन पांचों काय के सूक्ष्म को तो केवली भगवान् ही देख सकते हैं, वे छद्मस्थ के दृष्टिगोचर नहीं होते। बादर को केवली भगवान् और छद्मस्थ दोनों देखते हैं। इन पांचों काय के जीव, चार पर्याप्तियां (आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास) पूरी बांध लेते हैं वे 'पर्याप्त' कहलाते हैं और जो इनसे कम बांधते हैं, या पूरी नहीं बांधते, वे 'अपर्याप्त' कहलाते हैं।

पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर के उपरोक्त प्रकार से २२ भेद हुए।

विकलेन्द्रिय के ६ भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं–बेइन्द्रिय के दो भेद–अपर्याप्त और पर्याप्त। जिसके स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय अर्थात् शरीर और मुख–ये दो इन्द्रियां होती हैं, उसको बेइन्द्रिय कहते हैं। जैसे–शंख, सीप, कोड़ी कीड़ा, लट, अलसिया, कृमि (चूरणिया) वाला (नहरू) आदि दो लाख योनि हैं। बेइन्द्रिय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।

तेइन्द्रिय के दो भेद–अपर्याप्त और पर्याप्त। जिसके स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय अर्थात् शरीर, मुख और नाक–ये तीन इन्द्रियां होती हैं, उसे तेइन्द्रिय कहते हैं। जैसे–जूं, लीख, चांचड़, मांकड़ (खटमल), कीड़ी, कुंथुआ, कानखजूरा आदि दो लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट उनपचास दिन की है।

चौरिन्द्रिय के दो भेद–अपर्याप्त और पर्याप्त। जिसके स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय है, अर्थात् शरीर

मुख, नाक और आंख–ये चार इन्द्रियाँ होती है, उसे चौरीन्द्रिय कहते हैं। जैसे–मक्खी, डांस, मच्छर, भंवरा, टीड़ी, पतंगिया, कसारी आदि दो लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट छह मास की होती है।

तिर्यंच पंचेन्द्रिय के बीस भेद–१ जलचर २ स्थलचर ३ खेचर ४ उरपरिसर्प और ५ भुजपरिसर्प। इन पांच के संज्ञी असंज्ञी के भेद से दस भेद होते है। इन दस के अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से बीस भेद हो जाते हैं। तिर्यंच पंचेंद्रिय के–स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय अर्थात् शरीर, मुख नाक, आंख और कान–ये पांचों ही इन्द्रियां होती हैं। गाय, भैंस, बैल, हाथी, घोडा आदि चार लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है।

जलचर–जल में चलने वाले जीव 'जलचर' कहलाते हैं। जलचर के मच्छ, कच्छप (कछुआ) मगर, ग्राह और सुंसुमार ये पांच भेद हैं।

स्थलचर–स्थल (पृथ्वी) पर चलने वाले जीव 'स्थलचर' कहलाते हैं। जैसे-गाय, भैंस, घोड़ा आदि। स्थलचर के एक खुरा, दो खुरा, गण्डीपदा और सनखपदा-ये चार भेद होते हैं। जिनके पैर में एक ही खुर होता है, वे 'एकखुरा' कहलाते हैं, जैसे–घोड़ा, गदहा आदि। जिनके पैर में दो खुर होते हैं वे दोखुरा कहलाते हैं, जैसे-गाय, भैंस, बैल आदि। जिनके पैर सुनार की एरण की तरह चपटे होते हैं, वे 'गण्डीपदा' कहलाते हैं। जैसे-हाथी आदि। जिनके पैरों में नख युक्त पंजा होता

हैं वे 'सनखपदा' कहलाते हैं। जैसे—कुत्ता, बिल्ली, सिंह, चीता आदि।

खेचर खे अर्थात् आकाश, आकाश में उड़ने वाले जीव 'खेचर' कहलाते हैं। जैसे—कबूतर, कौआ आदि। खेचर के चार भेद होते हैं, जैसे कि—१ चर्मपक्षी, २ रोमपक्षी, ३ समुद्गक पक्षी और ४ वितत पक्षी। चर्ममय पंख वाले पक्षी 'चर्मपक्षी' कहलाते हैं। जैसे—चमगादड़ आदि। रोममय पंख वाले पक्षी 'रोमपक्षी' कहलाते हैं। जैसे—हंस, बगुला, चीड़ी, कबूतर आदि। समुद्गक (डिब्बे के समान) बन्द पंख वाले पक्षी 'समुद्गक पक्षी' कहलाते हैं। फैले हुए पंख वाले 'विततपक्षी' कहलाते हैं। समुद्गक पक्षी और विततपक्षी—ये दो जाति के पक्षी ढाईद्वीप के बाहर ही होते हैं।

उरपरिसर्प—उर अर्थात् छाती से चलने वाले जीव 'उरपरिसर्प' कहलाते हैं, जैसे—साँप आदि।

भुजपरिसर्प—भुजाओं से चलने वाले जीव 'भुजपरिसर्प' कहलाते हैं, जैसे—नेवला, चूहा आदि।

इस प्रकार एकेन्द्रिय के २२, तीन विकलेन्द्रिय के ६, और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के २० भेद—ये सभी मिलाकर तिर्यञ्च के ४८ भेद हुए।

मनुष्य के ३०३ भेद

१५ कर्मभूमि के, ३० अकर्मभूमि के और ५६ अन्तरद्वीपों के—ये सभी मिलाकर गर्भज मनुष्य के १०१ भेद होते हैं। इनके अपर्याप्त और पर्याप्त ये २०२ भेद हुए और १०१ सम्मूर्छिम

मनुष्य के अपर्याप्त। ये सब मिलाकर मनुष्य के ३०३ भेद होते हैं।

पन्द्रह कर्मभूमि के स्थान–५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह, ये १५ कर्मभूमि के क्षेत्र हैं। इनमें से एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह–ये तीन क्षेत्र जम्बुद्वीप में हैं। दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह–ये छह क्षेत्र धातकीखण्ड द्वीप में हैं। दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह–ये छह क्षेत्र अर्द्ध पुष्कर द्वीप में हैं।

कर्मभूमि--जहां असि (तलवार आदि शस्त्र) मसि (स्याही अर्थात् लिखने–पढ़ने का कार्य) और कृषि (खेती) के द्वारा मनुष्य अपना निर्वाह करते हैं, उसे 'कर्मभूमि' कहते हैं। कर्मभूमि में तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका होते हैं। राजा प्रजा का व्यवहार होता है। कर्मभूमि में केतु, सेतु और अपकेतु रूप पृथ्वी होती है। जहां बीज बोने से धान्यादि होते हैं उस भूमि को 'केतु' कहते हैं। जहां जल सींचने से धान्यादि होते हैं, उस भूमि को 'सेतु' कहते हैं और जहां बोये बिना ही अट्रक धान्य तथा घास-फूस आदि उगते हैं, उस भूमि को 'अपकेतु' कहते हैं। इन पन्द्रह कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्यों को 'कर्मभूमिज' कहते हैं।

तीस अकर्मभूमि–५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ हरिवास ५ रम्यक्वास ५ हैमवत और ५ हैरण्यवत–ये तीस क्षेत्र 'अकर्मभूमि' कहलाते हैं। इनमें से एक देवकुरु, एक उत्तरकुरु, एक

हरिवास एक रम्यक्वास, एक हैमवत और एक हिरण्यवन—ये छह क्षेत्र जम्बूद्वीप में हैं। इनमें से दो दो क्षेत्र के हिसाब से बारह क्षेत्र धातकीखण्ड द्वीप में हैं और बारह क्षेत्र अर्द्ध पुष्कर द्वीप में हैं।

अकर्मभूमि—जहां असि मसि कृषि का कर्म (व्यापार) नहीं होता, उसे 'अकर्मभूमि' कहते हैं। इन क्षेत्रों में उत्पन्न हुए मनुष्यों को 'अकर्मभूमिज' कहते हैं। इन क्षेत्रों में दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं। ये कल्पवृक्ष मन वाञ्छित फल देते हैं। इन्हीं से अकर्मभूमिज मनुष्य अपना निर्वाह करते हैं। कोई भी कर्म (कार्य) न करने से और कल्पवृक्षों द्वारा मनवांछित भोग (फल) प्राप्त होने से इन क्षेत्रों को 'भोगभूमि' और यहां के उत्पन्न मनुष्यों को 'भोगभूमिज' कहते हैं। यहां पुत्र और पुत्री जोड़े से जन्म लेते हैं, इसलिए इन्हें 'युगलिया' भी कहते हैं। युगलिया (भाई-बहन का जोड़ा) बड़े होकर पति-पत्नी रूप से रहते हैं और अपने जीवन में केवल एक युगल (पुत्र-पुत्री) को जन्म देते हैं, फिर दोनों एक साथ ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। युगलिया मर कर देवलोक में जाते हैं।

उपरोक्त तीस अकर्मभूमि के क्षेत्रों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका आदि नहीं होते। राजा-प्रजा का व्यवहार नहीं होता। यहां शत्रु और मित्र भेद नहीं होते, किन्तु अभेद प्रेम होता है।

छप्पन अन्तर्द्वीप—जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र की मर्यादा करने वाला 'क्षुल्लहिमवंत' नाम का पर्वत है। यह पर्वत [illegible]

योजन दूर है। इसका विस्तार नो सौ योजन का है और परिधि २८४५ योजन की है। इन सातों अन्तरद्वीपों में उत्तरोत्तर सौ सौ योजन का विस्तार बढ़ता गया है और परिधि में उत्तरोत्तर २१६ योजन बढ़ते गये हैं। जितना इनका विस्तार है उतने ही ये जगती के कोट से दूर हैं।

ईशानकोण की दाढ़ा पर सात अन्तरद्वीप जिस क्रम से स्थित है और जितने विस्तार और परिधि वाले हैं। चुल्लहिमवंत पर्वत की आग्नेय कोण, नैऋत्य कोण और वायव्य कोण की दाढ़ाओं पर भी उसी क्रम से सात-सात अन्तरद्वीप हैं। वे भी विस्तार, परिधि और दूरी में इसके अनुसार ही हैं।

चारों कोणों की दाढ़ाओं पर स्थित २८ अन्तरद्वीपों के नाम इस प्रकार हैं–

संख्या	ईशानकोण	आग्नेयकोण,	नैऋत्यकोण,	वायव्यकोण
१	एकोरुक	आभाषिक	वैषाणिक	नांगोलिक
२	हयकर्ण	गजकर्ण	गोकर्ण	शष्कुलीकर्ण
३	आदर्शमुख	मेंढमुख	अयोमुख	गोमुख
४	अश्वमुख	हस्तिमुख	सिंहमुख	व्याघ्रमुख
५	अश्वकर्ण	हरिकर्ण	अकर्ण	कर्णप्रावरण
६	उल्कामुख	मेघमुख	विद्युन्मुख	विद्युद्दन्त
७	घनदन्त	लष्टदन्त	गूढदन्त	शुद्धदन्त

चुल्लहिमवन्त पर्वत के समान ही एरावत क्षेत्र की मर्यादा करनेवाले शिखरी पर्वत के पूर्व पश्चिम के चारों कोणों में चार दाढ़ाएँ हैं और एक-एक दाढ़ा पर उपरोक्त प्रकार से उत्तरोत्तर

नामवाले सात-सात अन्तरद्वीप है। इस प्रकार दोनों पर्वतों की आठ दाढ़ाओं पर छप्पन अन्तरद्वीप हैं। ये अन्तरद्वीप लवण समुद्र के पानी की सतह से ढाई योजन से कुछ अधिक ऊपर हैं। प्रत्येक अन्तरद्वीप चारों ओर पद्मवर-वेदिका से शोभित है और पद्मवर-वेदिका भी वनखण्ड से घिरी हुई है।

इन अन्तरद्वीपों में अन्तरद्वीप के नाम वाले ही युगलिक मनुष्य रहते है। इनके वज्रऋषभ-नाराच संहनन और सम-चतुरस्र संस्थान होता है। इनकी अवगाहना आठ सौ धनुष की होती है और आयु पल्योपम के असंख्यात भाग प्रमाण है। इनके शरीर में चौसठ पंसुलियां होती है। छह मास आयु शेष रहने पर ये युगल सन्तान को जन्म देते है। ७९ दिन सन्तान का पालन करते हैं। फिर वह युगल संतान बड़ी हो जाती है और पति-पत्नी रूप से रहते है। ये अल्प कषायी, सरल और संतोषी होते है। वहां की आयु भोग कर वे देवलोक में उत्पन्न होते है।

लवण समुद्र के बीच में होने से अथवा परस्पर द्वीपों में अंतर (दूरी) होने से ये 'अंतरद्वीप' कहलाते है। अकर्मभूमि की तरह अंतरद्वीपों में भी असि, मसि, कृषि—किसी भी प्रकार का कर्म (धन्धा) नहीं होता। यहां भी कल्पवृक्ष होते है। अन्तर-द्वीपों में रहनेवाले मनुष्य 'अंतरद्वीपक' कहलाते हैं। ये एकान्त मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

अब सम्मूर्छिम मनुष्य के १०१ भेद बतलाये जाते हैं—

बिना माता-पिता (स्त्री पुरुष के समागम बिना) ही उत्पन्न होने वाले जीव 'सम्मूर्छिम' कहलाते हैं। पैंतालीस

लाख योजन परिमाण मनुष्य क्षेत्र में (अढ़ाईद्वीप और दो समुद्रों में) पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अंतरद्वीपों में गर्भज मनुष्य रहते हैं। उनके मलमूत्रादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति के स्थान चौदह हैं। यथा—

१ उच्चारेसु—विष्टा में, २ पासवणेसु—मूत्र में, ३ खेलेसु—कफ में, ४ सिंघाणेसु—नाक के मैल में, ५ वंतेसु—वमन में, ६ पित्तेसु—पित्त में, ७ पूएसु—राध (रसी, चीप) में और दुर्गन्ध युक्त बिगड़े घाव में से निकले हुए खून में, ८ सोणिएसु—शोणित (रक्त) में, ९ सुक्केसु—शुक्र (वीर्य) में, १० सुक्क-पुग्गल-परिसाडेसु—शुक्र के सूखे हुए पुद्गलों के पुनः गीले होने पर उनमें, ११ विगय-जीव-कलेवरेसु—जीव रहित शरीर में, १२ इत्थी-पुरिस संजोगेसु—स्त्री पुरुष के संयोग में, १३ णगरणिद्धमणेसु—नगर की मोरी (गटर) में और १४ सव्वेसु असुइ ट्ठाणेसु—अशुचि के सभी स्थानों में।

उपरोक्त चौदह स्थानों में एक अन्तर्मुहूर्त में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण होती है। इनकी आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है अर्थात् ये अन्तर्मुहूर्त में ही मर जाते हैं। ये असंज्ञी (मन रहित) मिथ्यादृष्टि एवं अज्ञानी होते हैं। अपर्याप्त अवस्था में ही इनका मरण हो जाता है।

देवों के १९८ भेद

१० भवनपति, १५ परमाधामिक, १६ वाणव्यन्तर, १० जृम्भक, १० ज्योतिषी, १२ वैमानिक, ३ किल्विषिक, ९ लोका-

तिष्क, ९ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर वैमानिक। ये कुल मिलाकर ९९ भेद हुए। इनके अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से देवों के १९८ भेद होते हैं।

भवनपति देव

भवनपति देवों के नाम इस प्रकार हैं—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ सुवर्ण (सुपर्ण) कुमार, ४ विद्युत्कुमार, ५ अग्निकुमार, ६ द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८ दिशाकुमार, ९ वायुकुमार और १० स्तनितकुमार +।

पन्द्रह परमाधार्मिक देव—घोर पापाचरण करनेवाले और क्रूर परिणामवाले असुर जाति के देव जो तीसरी नरक तक नारकी जीवों को विविध प्रकार के दुःख देते हैं, वे 'परमा-धार्मिक'—परम अधार्मिक कहलाते हैं। ये पन्द्रह प्रकार के होते हैं। यथा—१ अम्ब, २ अम्बरीष, ३ श्याम, ४ शबल, ५ रौद्र ६ उपरौद्र (महारौद्र), ७ काल, ८ महाकाल, ९ असिपत्र, १० धनुष, ११ कुम्भ, १२ वालुक, १३ वैतरणी, १४ खरस्वर

+ ये देव प्रायः भवनों में रहते हैं इसलिए इन्हें 'भवनपति' या 'भवनवासी' देव कहते हैं। इस प्रकार की व्युत्पत्ति असुरकुमारों की अपेक्षा समझनी चाहिए, क्योंकि विशेषतः वे ही भवनों में रहते हैं। भवनपति देवों के भवन और आवासों में यह अन्तर होता है कि भवन तो बाहर से गोल और भीतर से समचतुष्कोण होते हैं। उनके नीचे का भाग कमल की कर्णिका के आकार वाला होता है। शरीर प्रमाण बड़े, मणि तथा रत्नों के दीपकों से चारों दिशाओं को प्रकाशित करने वाले मण्डप 'आवास' कहलाते हैं। भवनपति देव भवनों में तथा आवासों में —दोनों में रहते हैं।

(पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व)। आणपन्ने आदि आठ (आणपन्ने, पाणपन्ने, इसिवाई, भूयवाई, कन्दे, महाकन्दे, कुह्मण्डे, पयंगदेव)। जृम्भक दस (अन्न जृम्भक, पाण जृम्भक, लयन जृम्भक, शयन जृम्भक, वस्त्र जृंभक, फल जृंभक, पुष्प जृंभक, फलपुष्प जृंभक, विद्या जृंभक और अग्नि जृंभक)।

ऊपर बताये हुए छब्बीस भेद वाणव्यन्तर देवों के हैं, किन्तु शास्त्रों में इनके तीन विभाग बताये गये हैं। यथा—जृम्भक, पिशाच आदि आठ को 'वाणव्यन्तर' अथवा 'व्यन्तर' कहा गया है। आणपन्ने आदि आठ को 'गन्धर्व' कहा गया है। अन्न-जृंभक आदि दस को 'जृंभक' कहा गया है। वे इस प्रकार है,—

१ अन्न जृंभक—भोजन के परिमाण को बढ़ाना, घटाना, सरस करना, नीरस करना आदि शक्ति रखने वाले 'अन्न-जृंभक' कहलाते हैं।

योजन ऊपर और सौ योजन नीचे छोड़कर बीच के आठ सौ योजन तिर्छालोक में वाणव्यन्तर देवों के असंख्यात नगर हैं। ये नगर बाहर से गोल, अन्दर से समचौरस तथा नीचे कमल की कर्णिका के आकार वाले हैं। ये पर्याप्त तथा अपर्याप्त व्यन्तर देवों के स्थान बताये गये हैं। वहां आठों प्रकार के वाणव्यन्तर रहते हैं। गन्धर्व नाम के व्यन्तर देव संगीत में बहुत प्रीति रखते हैं। ये सब बहुत चपल चित्तवाले तथा क्रीड़ा एवं हास्य प्रिय हैं। वे विविध आभूषणों से अपना शृंगार करने अथवा विविध क्रीड़ाओं में लगे रहते हैं। वे विचित्र चिन्होंवाले, महाऋद्धि वाले, महा कान्तिवाले, महायशवाले, महाबलवाले, महासामर्थ्यवाले तथा महासुखवाले होते हैं।

२ पाण जृंभक—पानी को घटाने या बढ़ाने वाले देव।

३ वस्त्रजृंभक—वस्त्र को घटाने-बढ़ाने की शक्ति वाले।

४ लयण जृंभक—घर आदि की रक्षा करने वाले।

५ शयनजृंभक—शय्या आदि की रक्षा करने वाले।

६ पुष्पजृंभक—फूलों की रक्षा करने वाले।

७ फलजृंभक—फलों की रक्षा करने वाले।

८ पुष्पफल जृंभक—फूलों और फलों की रक्षा करने वाले देव। कहीं-कहीं यहां 'अन्न जृंभक' नाम भी मिलता है।

९ विद्याजृंभक—विद्याओं की रक्षा करने वाले देव।

१० अव्यक्त जृंभक—सामान्यरूप से सभी पदार्थों की रक्षा करने वाले देव। कहीं-कहीं 'अधिपति जृंभक'—ऐसा नाम भी है।

ज्योतिषी देवों के पांच भेद हैं—१ चन्द्र, २ सूर्य, ३ ग्रह, ४ नक्षत्र और ५ तारा। इनके चर (अस्थिर) और अचर (स्थिर) के भेद से दस भेद हो जाते हैं। ये प्रकाश करते हैं, इसलिए ये ज्योतिषी कहलाते हैं।

मनुष्य क्षेत्रवर्ती अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत तक अढ़ाई द्वीप में रहे हुए ज्योतिषी देव, सदा मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए चलते रहते हैं। मानुषोत्तर पर्वत से आगे रहने वाले सभी ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं।

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र, एक सौ छिहत्तर ग्रह और एक लाख तेतीस हजार नौ सौ पचास कोड़ाकोड़ी तारे हैं। लवण समुद्र में चार, धातकी खण्डद्वीप में बारह, कालोदधि समुद्र में बयालीस और अर्द्ध पुष्कर द्वीप में बहत्तर चन्द्र

है। इन क्षेत्रों में सूर्य की संख्या भी चन्द्र के समान ही है। इस प्रकार अढ़ाई द्वीप में १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं।

एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोड़ाकोड़ी तारा हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप में इनसे १३२ गुने ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं।

चन्द्र से सूर्य की गति शीघ्र है। इसी प्रकार सूर्य से ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारा की गति शीघ्र है।

तिर्च्छालोक में मेरु पर्वत के समभूमि भाग से ७९० योजन से ९०० योजन तक यानी ११० योजन की मोटाई में ज्योतिषी देवों के विमान हैं। समभूमि भाग से ९०० योजन की ऊंचाई तक तिर्च्छालोक है। ज्योतिषी देव भी ९०० योजन की ऊंचाई तक ही हैं। इस प्रकार ज्योतिषी देव तिर्च्छालोक में हैं। तिर्च्छालोक की लम्बाई-चौड़ाई करीब एक रज्जु परिमाण है। जहां लोक का अन्त होता है, वहां से ११११ योजन इधर भीतर की ओर तक ही ज्योतिषी देव हैं अर्थात् ११११ योजन रूप लोक के अन्तिम भाग में ज्योतिषी देव नहीं हैं। आशय यह है कि ज्योतिषी देवों के जो सब से अन्तिम विमान हैं, उनसे ११११ योजन रूप लोक के अन्तिम भाग में ज्योतिषी देवों के विमान नहीं है।

वैमानिक देव

वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प का अर्थ है—मर्यादा। जिन देवों में इन्द्र, सामानिक आदि दस [illegible] की मर्यादा बन्धी हुई है, उन्हें 'कल्पोपपन्न

कहते हैं। जिन देवों में इन्द्र, सामानिक आदि की एवं छोटे-बड़े की मर्यादा नहीं है अपितु सभी 'अहमिन्द्र' हैं, वे 'कल्पातीत' कहलाते हैं।

कल्पोपपन्न देवों के बारह भेद हैं–१ सौधर्म, २ ईशान, ३ सनत्कुमार, ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्म, ६ लान्तक, ७ महाशुक्र, ८ सहस्रार, ९ आणत, १० प्राणत, ११ आरण और १२ अच्युत।

इन सौधर्म आदि विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

तिर्छालोक में मेरुपर्वत के समतल भूमिभाग से डेढ़ रज्जु की ऊंचाई पर सौधर्म और ईशान देवलोक हैं। ढाई रज्जु पर सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक हैं। सवा तीन रज्जु पर ब्रह्म देवलोक, साढ़े तीन रज्जु पर लान्तक, पौने चार रज्जु पर महाशुक्र, चार रज्जु पर सहस्रार, साढ़े चार रज्जु पर आणत और प्राणत, पांच रज्जु पर आरण और अच्युत देवलोक हैं। कुछ कम सात रज्जु की ऊंचाई पर लोक का अन्त है। सौधर्म देवलोक से सर्वार्थसिद्ध तक के सभी देवलोकों के ८४९७०२३ विमान हैं। सभी विमान रत्नों के बने हुए, स्वच्छ, कोमल, स्निग्ध, घिसे हुए, रजरहित, निर्मल, निष्पंक, बिना आवरण की दीप्ति वाले, प्रभा सहित, शोभा सहित, उद्योत सहित, प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं। इनमें देव रहते हैं।

सौधर्म देवलोक के देवों के मुकुट में मृग का चिह्न होता है। ईशान में महिषी (भैंस) का, सनत्कुमार में वराह (सूअर) का, माहेन्द्र में सिंह का, ब्रह्म देवलोक में बकरे का, लान्तक

में ढंक का, महाशुक्र में घोड़े का, सहस्रार में हाथी का, आणत में भुजंग का, प्राणत में मेंढ़े का, आरण में वृपभ का और अच्युत में विडिम (एक प्रकार के मृग) का चिन्ह होता है।

प्रथम सौधर्म स्वर्ग में शक्र नाम का इन्द्र है। बत्तीस लाख विमान, चौरासी हजार सामानिक देव, तेतीस गुरुस्थानीय त्रायस्त्रिंश देव, चार लोकपाल, आठ अग्र महिपियाँ, तीन परिपदाएँ, सात अनीकों (सेनाओं) सात अनीकाधिपतियों और तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देवों तथा बहुत से दूसरे वैमानिक देव और देवियों का अधिपति है।

दूसरे ईशान देवलोक का स्वामी ईशानेन्द्र है। अट्ठाईस लाख विमान, अस्सी हजार सामानिक देव, तेतीस त्रायस्त्रिंशक देव, चार लोकपाल, आठ अग्रमहिपियाँ, तीन परिपदाओं, सात अनीक, सात अनीकाधिपतियों, तीन लाख बीस हजार आत्मरक्षक देवों तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देव और देवियों का स्वामी है।

३ सनत्कुमार देव लोक का इन्द्र सनत्कुमार है। बारह लाख विमान, बहत्तर हजार सामानिक देव आदि शक्रेन्द्र के समान जानना चाहिए। यहां अग्रमहिपियाँ या देवियाँ नहीं होती। दो लाख अट्ठासी हजार आत्मरक्षक देव होते हैं।

चौथा माहेन्द्र देवलोक का माहेन्द्र नामक इन्द्र है। आठ लाख विमान, सत्तर हजार सामानिक देव तथा दो लाख अस्सी हजार आत्मरक्षक देवों का स्वामी है। शेष सारा वर्णन सनत्कुमारेन्द्र के समान जानना चाहिये।

पाँचवें ब्रह्म देवलोक का इन्द्र ब्रह्म है। चार लाख विमान, साठ हजार सामानिक देव, दो लाख चालीस हजार आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का अधिपति है।

छठा लान्तक देवलोक का इन्द्र भी इसी नाम का है। पचास हजार विमान, पचास हजार सामानिक देव, दो लाख आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का स्वामी है।

सातवां महाशुक्र देवलोक का स्वामी भी इसी नाम का है। चालीस हजार विमान, चालीस हजार सामानिक देव, एक लाख साठ हजार आत्मरक्षक देव और दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का अधिपति है।

आठवें सहस्रार देवलोक का इन्द्र सहस्रारेन्द्र है। छः हजार विमान, तीस हजार सामानिक देव और एक लाख बीस हजार आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का स्वामी है।

नौवें और दसवें देवलोक—आणत और प्राणत का 'प्राणत' नाम का इन्द्र है। दोनों देवलोक का एक ही इन्द्र है। चार सौ विमान, बीस हजार सामानिक देव, अस्सी हजार आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत से वैमानिक देवों का अधिपति है।

ग्यारहवें और बारहवें आरण और अच्युत देवलोक का इन्द्र 'अच्युतेन्द्र' है। तीन सौ विमान, दस हजार सामानिक देव और चालीस हजार आत्मरक्षक देवों का अधिपति है।

किल्विषिक देव

किल्विषिक देवों के तीन भेद हैं। जैसे कि—१ त्रिपल्योपमिक, २ त्रिसागरोपमिक और ३ त्रयोदश सागरोपमिक। ये नाम इनकी स्थिति

के अनुसार है। १ जिन किल्विषिक देवों की स्थिति तीन पल्योपम की है वे 'त्रिपल्योपमिक' कहलाते हैं। जिन की स्थिति तीन सागरोपम की होती है वे 'त्रि सागरिक' कहलाते हैं और जिन की स्थिति तेरह सागरोपम की है वे 'त्रयोदश सागरिक' कहलाते हैं।

वैसे तो भुवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, चारों ही जाति के देवों में किल्विषिक देव होते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिषी जाति के किल्विषिक देवों के रहने का प्रथक् कोई खास स्थान नियत नहीं है। उपर्युक्त किल्विषिक देव, वैमानिक जाति के हैं। इनमें से त्रिपल्योपमिक किल्विषिक, ज्योतिषी देवों के ऊपर और सौधर्म और ईशान नामक पहले और दूसरे देवलोक के नीचे के प्रतर भाग में रहते हैं। तीन सागरिक किल्विषिक देव, दूसरे देवलोक से ऊपर सनत्कुमार और माहेन्द्र नामक तीसरे और चौथे देवलोक के नीचे के प्रतर भाग में रहते हैं और तेरह सागरिक किल्विषिक देव, पाँचवें देवलोक के ऊपर और लान्त नामक छठे देवलोक के नीचे के प्रतर भाग में रहते हैं।

लोकान्तिक देव

लोकान्तिक देवों के नौ भेद हैं। उनके नाम इस प्रकार है– १ सारस्वत, २ आदित्य, ३ वह्नि, ४ वरुण, ५ गर्दतोय, ६ तुषित, ७ अव्याबाध, ८ आग्नेय और ९ अरिष्ट।

पाँचवें देवलोक का नाम ब्रह्मलोक है। लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक के अन्त में अर्थात् पास में रहते हैं, इसलिये इन्हें लोकान्तिक कहते हैं। अथवा ये देव औदयिक भावरूप भावलोक

के अन्त में स्थित हैं अर्थात् इनके स्वामी देव प्रायः एक भवावतारी होते हैं, इसलिए इन्हें 'लोकान्तिक' कहते हैं ।

लोकान्तिक देवों का मान-सत्कार बहुत होता है । इन के मुख्य देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं । तथा सभी लोकान्तिक देव भव्य ही होते हैं । अभवी जीव लोकान्तिक देवों में उत्पन्न नहीं होते । जब तीर्थंकर के दीक्षा लेने का समय आता है, तब ये लोकान्तिक देव, मनुष्य-लोक में आ कर उनसे प्रार्थना करते हैं कि "हे भगवन् ! आप दीक्षा धारण कीजिये और जगज्जीवों के कल्याण के लिये धर्म तीर्थ की स्थापना कीजिये ।"

ग्रैवेयक देव

ग्रैवेयक देवों के ९ भेद हैं—१ भद्र, २ सुभद्र, ३ सुजात, ४ सुमनस, ५ सुदर्शन, ६ प्रियदर्शन, ७ अमोघ, ८ सुप्रतिबद्ध और ९ यशोधर ।

इन नौ प्रकार के ग्रैवेयक देवों के इन्हीं नामवाले नौ विमान हैं । इनकी तीन त्रिक हैं अर्थात् तीन-तीन विमान एक-एक पंक्ति में आये हुए हैं । जैसे कि—पहली त्रिक में भद्र, सुभद्र और सुजात—ये तीन हैं । इस पहली त्रिक में १११ विमान हैं । पहली त्रिक के ऊपर दूसरी त्रिक में सुमनस, सुदर्शन और प्रियदर्शन, ये तीन ग्रैवेयक हैं । इस त्रिक में १०७ विमान हैं । दूसरी त्रिक के ऊपर तीसरी त्रिक है, इसमें अमोघ सुप्रतिबद्ध और यशोधर—ये तीन ग्रैवेयक हैं । इस त्रिक में १०० विमान हैं ।

ग्रैवेयक देवों के विमान, आरण और अच्युत नामक ग्यारहवें और बारहवें देवलोक के असंख्यात योजन ऊपर हैं और तीन

त्रिकों में विभक्त हैं।

अनुत्तर विमान

अनुत्तर विमानवासी देवों के पांच भेद हैं। उनके विमानों के नाम इस प्रकार हैं–१ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त, ४ अपराजित और ५ सर्वार्थसिद्ध। इन विमानों में रहनेवाले देव भी इन्हीं नामवाले हैं।

नव ग्रैवेयक विमानों से असंख्यात योजन ऊपर अनुत्तर विमान हैं।

ये विमान अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्तम होते हैं और इन विमानों में रहनेवाले देवों के शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श, सर्व श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए उनके विमानों को 'अनुत्तर विमान' कहते हैं और उनमें रहने वाले देवों को अनुत्तर विमानवासी' देव कहते हैं।

इस प्रकार १० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ वाणव्यन्तर, १० जृंभक, १० ज्योतिषी, १२ वैमानिक, ३ किल्विषिक, ९ लोकान्तिक, ९ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तर विमानिक–ये कुल मिलाकर ९९ भेद हुए। इन ९९ के अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से देवों के १९८ भेद होते हैं।

नारकों के १४, तिर्यंच के ४८, मनुष्य के ३०३ और देव के १९८ इस प्रकार कुल मिलाकर जीव के ५६३ भेद होते हैं।

इनके छह विभाग होते हैं, जिन्हें 'आरा' कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ सुषम-सुषमा २ सुषमा ३ सुषम-दुषमा ४ दुषम-सुषमा ५ दुषमा ६ दुषम-दुषमा।

(१) सुषम-सुषमा—यह आरा चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों की अवगाहना तीन कोस की और आयु तीन पल्योपम की होती है। इस आरे में पुत्र-पुत्री युगल रूप से उत्पन्न होते हैं। बड़े होकर वे ही पति-पत्नी बन जाते हैं। युगलरूप से उत्पन्न होने के कारण इस आरे के मनुष्य 'युगलिया' कहलाते हैं। माता-पिता की आयु जब छह मास शेष रहती है, तब एक युगल (पुत्र-पुत्री का जोड़ा) उत्पन्न होता है। माता-पिता ४९ दिन तक उनकी प्रतिपालना करते हैं। तत्पश्चात् वे स्वयं जवान हो जाते हैं और पृथक् विचरण करने लग जाते हैं। आयु समाप्ति के समय माता को छींक और पिता को जंभाई आती है और दोनों एक साथ काल कर जाते हैं। पति का वियोग पत्नी नहीं देखती और पत्नी का वियोग पति नहीं देखता। वे मर कर देवों में उत्पन्न होते हैं। इस आरे के मनुष्य दस प्रकार के * कल्पवृक्षों से मनोवांछित सामग्री पाते हैं। तीन दिन के अन्तर से उन्हें आहार की इच्छा होती है। युगलियों के वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है। इनके शरीर में २५६ पसलियाँ होती हैं। युगलिया

* कल्पवृक्ष का अर्थ और भेद, परिशिष्ट में प्रसंग के बाद दिया गया है।

असि, मसि और कृषि में से कोई कर्म नहीं करते।

इस आरे में पृथ्वी का स्वाद मिश्री आदि मधुर पदार्थों से भी अधिक स्वादिष्ट होता है। पुष्प और फलों का स्वाद, चक्रवर्ती के श्रेष्ठ भोजन से भी बढ़कर होता है। भूमि-भाग अत्यन्त रमणीय होता है और पाँच वर्णवाली विविध मणियों से एवं वृक्षों और पौधों से सुशोभित होता है। सभी प्रकार के सुखों से परिपूर्ण होने के कारण यह आरा 'सुषम-सुषमा' कहलाता है।

(२) सुषमा–यह आरा तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों की अवगाहना दो कोस की और आयु दो पल्योपम की होती है। पहले आरे के समान इस आरे में भी युगल धर्म रहता है। पहले आरे के युगलियों से इस आरे के युगलियों में इतना ही अन्तर होता है कि इनके शरीर में १२८ पसलियां होती हैं। माता-पिता बच्चों का ६४ दिन तक पालन-पोषण करते हैं। दो दिन के अन्तर से आहार की इच्छा होती है। यह आहार भी गुणपूर्ण होता है। शेष सारी बातें स्थूलरूप से पहले आरे जैसी जानना चाहिये। अवसर्पिणी काल होने के कारण इस आरे में पहले की अपेक्षा सभी बातों में क्रमशः हीनता होती जाती है।

(३) सुषम-दुःषमा–यह आरा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें दूसरे आरे की तरह सुख तो है, परन्तु साथ में दुःख भी है। इस आरे के तीन भाग हैं। प्रथम दो भाग में मनुष्यों की अवगाहना एक कोस और स्थिति एक पल्योपम की होती है। इन दोनों भागों में युगलिया उत्पन्न होते हैं। उनके

फिर वह आगे से वैसा अपराध नहीं करता था। ग्यारहवें से पन्द्रहवें कुलकर तक के शासन में 'धिक्कार' दण्ड था 'तुमने ऐसा कार्य किया ? तुम्हें धिक्कार है'—इतना कहना ही पर्याप्त था। चौदहवें कुलकर 'नाभि' थे और पन्द्रहवें कुलकर उनके पुत्र श्रीऋषभदेव स्वामी थे। इनकी माता का नाम 'मरुदेवी' था। ऋषभदेव, इस अवसर्पिणी के प्रथम राजा, प्रथम साधु, प्रथम केवली और प्रथम तीर्थंकर थे। इनकी आयु चौरासी लाख पूर्व की थी। इन्होंने बीस लाख पूर्व कुमारावस्था में बिताये और त्रेसठ लाख पूर्व राज्य किया। अपने राजशासनकाल में इन्होंने प्रजाहित के लिये लेख गणित आदि ७२ पुरुष-कलाओं और ६४ स्त्री-कलाओं का उपदेश दिया। इसी प्रकार एक सौ शिल्प और असि, मसि, कृषि रूप तीन कर्मों की भी शिक्षा दी। त्रेसठ लाख पूर्व राज्य का उपभोग कर, दीक्षा अंगीकार की। एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ रहे। एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व केवली रहे। चौरासी लाख पूर्व की आयुष्य पूर्ण होने पर मोक्ष पधारे। भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ-पुत्र 'भरत महाराज' इस आरे के प्रथम चक्रवर्ती थे।

४ दुषम-सुषमा—यह आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। अवगाहना बहुत से धनुषों की होती है और आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व + की होती है। यहां से आयु पूरी करके जीव स्वकृत कर्मा-

+ सत्तर लाख करोड़ वर्ष और छप्पन हजार करोड़ वर्ष

नुसार चारों गतियों में जाते हैं और सिद्ध गति भी प्राप्त करते हैं।

वर्तमान अवसर्पिणी के इस आरे में तीन वंश उत्पन्न हुए—अरिहन्त वंश, चक्रवर्ती वंश और दशार वंश। इसी आरे में तेईस तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव उत्पन्न हुए। दुःख विशेष और सुख कम होने से इस आरे को 'दुःषमसुषमा' कहते हैं।

(५) दुःषमा—पांचवें आरे का नाम दुःषमा है। यह इक्कीस हजार वर्ष का है। इस आरे में मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। शरीर की अवगाहना सात हाथ तक की होती है। आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सौ वर्ष झाझेरी होती है। और स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं। चौथे आरे में उत्पन्न कोई जीव मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है, जैसे—जम्बूस्वामी। वर्तमान पंचम आरे के अंतिम दिन का तीसरा भाग बीत जाने पर गण (समुदाय जाति) विवाह आदि व्यवहार, पाखण्ड-धर्म, राजधर्म, अग्नि और अग्नि से होनेवाली रसोई आदि क्रियाएं, चारित्र धर्म और गच्छ व्यवहार, इन सभी का विच्छेद हो जायगा। यह आरा दुःख प्रधान है। इसलिए इसे 'दुःषमा' कहते हैं।

(६) दुःषमदुःषमा—अवसर्पिणी काल का दुःषमा नामक पांचवां आरा बीत जाने पर अत्यन्त दुःखों से परिपूर्ण 'दुःषमदुःषमा' नाम का छठा आरा प्रारम्भ होगा। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष

(७०५६००००००००००) का एक पूर्व होता है।

पर ७२ बिल हैं, वे ही इस काल के मनुष्यों के निवासस्थान होंगे। वे लोग सूर्योदय और सूर्यास्त के समय अपने-अपने बिलों से निकलेंगे और गंगा और सिंधु महानदियों में मच्छ-कच्छपादि पकड़कर रेत में गाड़ देंगे। शाम के गाड़े हुए मच्छ-कच्छपादि सुबह निकाल कर खायेंगे और सुबह के गाड़े हुए शाम को निकाल कर खायेंगे। वे व्रत नियम प्रत्याख्यानादि से रहित, मांस का आहार करने वाले, संक्लिष्ट परिणामवाले होंगे। वे मर कर प्रायः नरक और तिर्यंच योनि में उत्पन्न होंगे।

उत्सर्पिणी काल

उत्सर्पिणी काल—जिस काल में जीवों के संहनन और संस्थान क्रमशः अधिकाधिक शुभ होते जावें, आयु और अवगाहना बढ़ती जाय तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की वृद्धि होती जाय, वह 'उत्सर्पिणी काल' है। इस काल में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी क्रमशः शुभ होते जाते हैं। अवसर्पिणी काल में उत्सर्पिणी काल का प्रभाव उल्टा है। इसके भी छह आरे हैं किन्तु उल्टे क्रम से हैं।

सागरोपम—दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है। सागरोपम का स्वरूप समझने के लिए, पहले पल्योपम का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

पल्योपम—एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार पल्य (कुएँ) की उपमा से जो काल गिना जाय उसे 'पल्योपम' कहते हैं।

दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

कोड़ाकोड़ी–एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर जितनी संख्या आती है, उसे 'कोड़ाकोड़ी' कहते हैं।

कल्पवृक्ष–अकर्मभूमि में होने वाले युगलियों के लिए जो उपभोग रूप हों, मनोवांच्छित पदार्थों की पूर्ति करने वाले वृक्षों को 'कल्पवृक्ष' कहते हैं। उनके दस भेद हैं–

१ मतंगा–शरीर के लिए पौष्टिक रस देने वाले।

२ भृतंगा–पात्र आदि देने वाले।

३ त्रुटितांगा–वादित्र देने वाले।

४ दीपांगा–दीपक का काम देने वाले।

५ ज्योतिरंगा–प्रकाश को 'ज्योति' कहते हैं। सूर्य के समान प्रकाश देने वाले। अग्नि को भी ज्योति कहते हैं। अग्नि का काम देने वाले कल्पवृक्षों को 'ज्योतिरंगा' कहते हैं।

६ चित्रांगा–विविध प्रकार के फूल देने वाले।

७ चित्ररसा–विचित्र एवं विविध प्रकार का भोजन देनेवाले।

८ मण्यंगा–आभूषण देने वाले।

९ गेहाकारा–मकान के आकार परिणत हो जाने वाले (मकान की तरह आश्रय देने वाले)।

१० अणियणा (अनग्ना) वस्त्रादि देने वाले।

इस प्रकार के कल्पवृक्षों से युगलियों की आवश्यकताएं पूरी होती हैं। अतः ये कल्पवृक्ष कहलाते हैं।

अंगुल का नाप

अंगुल के तीन भेद हैं–१ आत्मांगुल, २ उत्सेधांगुल और ३ प्रमाणांगुल।

१ आत्मांगुल—जिस काल में जो मनुष्य होते हैं, उनके अपने अंगुल को 'आत्मांगुल' कहते हैं। काल के भेद से मनुष्यों की अवगाहना में न्यूनाधिकता होने से इस अंगुल का परिमाण भी परिवर्तित होता रहता है। जिस समय जो मनुष्य होते हैं, उनके नगर, कानन, उद्यान, वन, तालाब, कूप, मकान आदि उन्हीं के अंगुल से अर्थात् आत्मांगुल से मापे जाते हैं।

२ उत्सेधांगुल—आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल होता है। अथवा इस अवसर्पिणी काल के पांचवें आरे का आधा भाग अर्थात् साढ़े दस हजार वर्ष बीत जाने पर, उस समय के मनुष्य के अंगुल को उत्सेधांगुल कहते हैं। उत्सेधांगुल से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवों की अवगाहना मापी जाती है।

३ प्रमाणांगुल—यह अंगुल सबसे बड़ा होता है। इसलिए इसे प्रमाणांगुल कहते हैं। उत्सेधांगुल से प्रमाणांगुल हजार गुण बड़ा होता है। इस अंगुल से रत्नप्रभा आदि नरक, भवनपतियों के भवन, कल्प (विमान), वर्षधर पर्वत द्वीप आदि की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, गहराई और परिधि मापी जाती है। शाश्वत वस्तुओं को मापने के लिए चार हजार कोस का एक योजन माना है। इसका कारण यही है कि शाश्वत वस्तुओं के मापने का योजन प्रमाणांगुल से लिया जाता है। प्रमाणांगुल उत्सेधांगुल से हजार गुणा अधिक होता है। इसलिए इस अपेक्षा से प्रमाणांगुल का योजन उत्सेधांगुल के योजन से हजार गुणा बड़ा होता है।

॥ [illegible] ॥

२ अजीव तत्त्व

अजीव—जो चेतना रहित हो, सुख-दुःख का वेदन नहीं करता हो, पर्याप्ति, प्राण, योग, उपयोग और आठ कर्मों से रहित हो, तथा जड़ स्वरूप हो, उसे 'अजीव' कहते हैं।

अजीव के दो भेद हैं—रूपी अजीव और अरूपी अजीव।

अरूपी अजीव के दस भेद हैं—१ धर्मास्तिकाय, २ धर्मास्तिकाय के देश, ३ धर्मास्तिकाय के प्रदेश, ४ अधर्मास्तिकाय, ५ अधर्मास्तिकाय के देश, ६ अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, ७ आकाशास्तिकाय, ८ आकाशास्तिकाय के देश, ९ आकाशास्तिकाय के प्रदेश, और १० काल।

रूपी अजी के चार भेद—१ स्कन्ध, २ देश, ३ प्रदेश और ४ परमाणु-पुद्गल।

सामान्य रूप से अजीव तत्त्व के ये चौदह भेद हैं।

रूपी—जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाये जाते हों और जो मूर्त हो उसे 'रूपी द्रव्य' कहते हैं।

रूपी द्रव्य के दो भेद हैं—अष्ट स्पर्शी और चतुःस्पर्शी। जिनमें वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान के साथ ये आठ स्पर्श हों:— १ खरदरा—कर्कश कठोर, २ सुंहाला—मृदु, कोमल, ३ लघु—हल्का, ४ गुरु—भारी, ५ स्निग्ध—चिकना, ६ रूक्ष—रूखा, ७ शीत—ठण्डा, ८ उष्ण—गरम। ये पाये जाते हों, उसे 'अष्टस्पर्शी' रूपी कहते हैं। जिनमें वर्ण, गन्ध, रस के साथ शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, ये चार स्पर्श पाये जाते हों, उसे 'चतु·

स्पर्शी' रूपी कहते हैं *।

अरूपी—जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श न पाये जाते हों, तथा जो अमूर्त हो उसे अरूपी कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल—ये अरूपी हैं।

अजीव के सामान्य रूप से उपर्युक्त चौदह भेद हुए। विशेष रूप से अजीव तत्त्व के ५६० भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं।

अजीव के दो भेद—रूपी और अरूपी। रूपी अजीव के ५३० भेद है।

१ परिमण्डल, २ वृत्त, ३ त्र्यस्र, ४ चतुरस्र और ५ आयत, इन पांच संस्थानों के ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श। पूर्वोक्त पांचों संस्थानों के प्रत्येक के वर्णादि २० से १०० भेद हुए।

काला, नीला, लाल, पीला और सफेद—ये पांच वर्ण हैं। प्रत्येक वर्ण में ५ रस, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान—ये बीस-बीस बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार पांच वर्णों के (५×२०=१००) सौ भेद होते हैं।

सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध—ये दो गन्ध हैं। प्रत्येक गंध में ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान—ये २३-२३ बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार दो गंधों के ४६ भेद होते हैं।

तिक्त, कटु, कषाय, खट्टा और मीठा—इन पांच रसों में से प्रत्येक में ५ वर्ण, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान—ये बीस-

* [illegible] आदि [illegible] भी होते हैं, किन्तु यहां [illegible] रूप से चतु-स्पर्शी और अष्टस्पर्शी भेद भी लिये गये हैं-[illegible]

बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार पांच रसों के (५×२०=१००) सौ भेद होते हैं।

कर्कश, मृदु, हलका, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—इन आठ स्पर्शों में से प्रत्येक स्पर्श में ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध, ६ स्पर्श और ५ संस्थान—ये २३–२३ बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार आठ स्पर्शों के (८×२३=१८४) एक सौ चोरासी भेद होते हैं।

इस प्रकार संस्थान के १००, वर्ण के १००, गन्ध के ४६, रस के १०० और स्पर्श के १८४। ये सब मिलाकर रूपी अजीव के ५३० भेद होते हैं।

अरूपी अजीव के ३० भेद इस प्रकार हैं—

धर्मास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश और प्रदेश। अधर्मास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश और प्रदेश। आकाशास्तिकाय के तीन भेद—स्कन्ध, देश और प्रदेश। ये ९ और एक काल—ये दस भेद होते हैं।

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन चारों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण—इन पांच की अपेक्षा पहचाना जाता है। इसलिए इन प्रत्येक के पांच पांच भेद हो जाते हैं। इस प्रकार इन चारों के बीस भेद होते हैं। उपरोक्त १० और ये २०, कुल मिलाकर अरूपी अजीव के ३० भेद होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण, इन पांच का विवेचन पहले किया जा चुका है।

रूपी अजीव के ५३० और अरूपी अजीव के ३० ये कुल

मिलाकर अजीव तत्त्व के ५६० भेद होते हैं ।

॥ अजीव तत्त्व समाप्त ॥

३ पुण्य तत्त्व

-जो आत्मा को पवित्र करे, जिसकी प्रकृति शुभ हो, जो उपार्जन करने में कठिन किन्तु भोगते हुए सुखकारी, दुःख-पूर्वक बांधा जाय किन्तु सुखपूर्वक भोगा जाय, शुभयोग से बँधे शुभ उज्ज्वल पुद्गलों का बन्ध हो, जिसका फल मीठा हो, उसे 'पुण्य' कहते हैं । पुण्य, धर्म में सहायक तथा पथ्यरूप होता है । पुण्य नौ प्रकार से बांधा जाता है । यथा—

१ अन्न पुण्य—अन्न देने से पुण्य होता है ।

२ पाण पुण्य-पानी देने से पुण्य होता है ।

३ लयन पुण्य—जगह, स्थान आदि देने से पुण्य होता है ।

४ शयन पुण्य—शय्या, पाट, पाटला, बाजोट आदि देने से पुण्य होता है ।

५ वस्त्र पुण्य—वस्त्र देने से पुण्य होता है ।

६ मन पुण्य—मन को शुभ रखने से अर्थात् दानरूप, शीलरूप, तपरूप, भावरूप और दयारूप आदि शुभ मन रखने से पुण्य होता है ।

७ वचन पुण्य—मुख से शुभ वचन बोलने से पुण्य होता है ।

८ काय पुण्य—शरीर द्वारा दया पालने, सेवा, विनय, वैया-वृत्य करने से पुण्य होता है ।

९ नमस्कार पुण्य—अपने से अधिक गुणवान् को नमस्कार

करने से पुण्य होता है।

यह नौ प्रकार का पुण्य, सुपात्र के विषय में महान् पुण्य उपार्जन करता है और इससे मन्द मन्दतर पात्रों में परिणामों के अनुसार मन्द मन्दतर पुण्य होता है।

सातावेदनीय, उच्च गोत्र, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, देव गति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कार्मण–ये पांच शरीर, औदारिक शरीर अंगोपांग, वैक्रिय शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, शुभ वर्ण, शुभ गंध, शुभ रस, शुभ स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभ विहायोगति, निर्माण, त्रस-दशक, देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु और तीर्थंकर नामकर्म।

ये पुण्य की बयालीस प्रकृतियाँ हैं। इनके उदय में आने पर ४२ प्रकार से फल भोगा जाता है।

१ सातावेदनीय–जिस कर्म के उदय से जीव सुख का अनुभव करता है।

२ उच्च गोत्र–जिस कर्म के उदय से जीव उच्च कुल में जन्म पाता है;

३ मनुष्य गति–जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य की गति मिले।

४ मनुष्यानुपूर्वी–जिस कर्म के उदय से मनुष्य की आनुपूर्वी मिले।

जैसे–इस भव में जो जीव आगे के लिये मनुष्य गति में ज

और बड़े से छोटा बनाना, पृथ्वी और आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य, अदृश्य रूप बनाना आदि।

१० आहारक शरीर–जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर की प्राप्ति हो उसे 'आहारक नामकर्म' कहते हैं।

प्राणी दया के लिए, दूसरे द्वीप में रहे हुए तीर्थंकर भगवान् की ऋद्धि ऐश्वर्य देखने के लिये तथा अपना संशय निवारणार्थ उनसे प्रश्न पूछने के लिए, चौदह पूर्वधारी मुनिराज अपनी लब्धि से अति विशुद्ध स्फटिक के सदृश एक हाथ का पुतला (चर्मचक्षु से अदृश्य) अपने शरीर में से निकालते हैं और उस पुतले को तीर्थंकर भगवान् या केवली भगवान् के पास भेजते हैं। यदि तीर्थंकर भगवान् या केवली भगवान् वहां से विहार कर गये हों, तो उस एक हाथ के पुतले में से मुण्ड हाथ का पुतला निकलता है। वह तीर्थंकर भगवान् के पास जाकर अपना कार्य करता है। उसे 'आहारक शरीर' कहते हैं। वे मुनिराज यदि उस लब्धि फोड़ने की आलोचना करें, तो आराधक होते हैं, यदि आलोचना नहीं करें, तो विराधक होते हैं।

११ तैजस् शरीर–जिस कर्म के उदय से तैजस् शरीर की प्राप्ति हो उसे 'तैजस् नामकर्म' कहते हैं। किये हुए आहार को पचा कर रस, रक्त बनानेवाला तथा तपोबल से तेजोलेश्या निकालनेवाला शरीर 'तैजस् शरीर' कहलाता है।

१२ कार्मण शरीर–कर्मों से बना हुआ शरीर 'कार्मण' कहलाता है अथवा जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों को कार्मण शरीर कहते हैं। (जिस प्रकार आ

…ा माली, प्रत्येक क्यारी में पानी पहुंचाता है, उसी प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव में जो रसादि का परिणमन करता है तथा कर्मों का रस परिणमन कराता है, उसे 'कार्मण शरीर' कहते हैं। यह शरीर ही सभी कर्मों का बीज है।

तैजस् शरीर और कार्मण शरीर—ये दोनों शरीर अनादि काल से जीव के साथ लगे हुए हैं। मोक्ष प्राप्त किये बिना ये जीव से पृथक् नहीं होते। जब जीव मरण-स्थान को छोड़कर, उत्पत्ति स्थान को जाता है, तब ये दोनों शरीर जीव के साथ रहते हैं।

१३-१४-१५ अंग, उपांग और अंगोपांग जिन कर्मों से बनें, उसे 'अंगोपांग नामकर्म' कहते हैं। जानु, भुजा, मस्तक, पेट आदि 'अंग' हैं और अंगुली आदि 'उपांग' हैं और अंगुलियों की पर्व-रेखा आदि 'अंगोपांग हैं'। ये अंगोपांग औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर—इन तीन शरीरों के होते हैं, तैजस् और कार्मण शरीर के नहीं होते।

१६ वज्रऋषभ-नाराच संहनन—वज्र शब्द का अर्थ कीला है, ऋषभ का अर्थ वेष्टन (पट्टी) है और नाराच का अर्थ दोनों ओर से मर्कट-बन्ध है। जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कट-बन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्टी की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली एक कीलक हड्डी की कील हो, उसे 'वज्रऋषभ-नाराच-संहनन' कहते हैं। मोक्ष जाने वाले जीवों के यही संहनन होता है।

१७ समचतुरस्र संस्थान–सम का अर्थ है–समान, चतुः का अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण। पालथी मारकर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, बाएँ कन्धे और दाहिने जानु तथा दाहिने कन्धे और बाएँ जानु का अन्तर समान हो, उसे 'समचतुरस्र संस्थान' कहते हैं। छहों संस्थानों में यह संस्थान सर्व श्रेष्ठ है। तीर्थंकर भगवान् और देवों के यही संस्थान होता है।

१८ शुभ वर्ण–जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में हंस आदि की तरह शुक्ल आदि शुभ वर्ण हो, वह 'शुभ वर्ण नाम कर्म' कहलाता है। श्वेत, लाल, पीला, नीला और काला–पांच वर्ण माने गये हैं। इन्हीं पांचों के संयोग से दूसरे रंग तैयार होते हैं। इनमें से श्वेत, लाल और पीला–ये तीन वर्ण शुभ तथा नीला और काला ये दो वर्ण अशुभ हैं।

१९ सुरभि गन्ध–जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में कमल और गुलाब के फूल आदि की तरह शुभ गन्ध हो, उसे 'सुरभिगन्ध नामकर्म' कहते हैं।

दो प्रकार के गन्ध में से सुरभिगंध शुभ है और दुरभिगंध अशुभ है।

२० शुभ रस–जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में शक्कर आदि के समान मधुर आदि शुभ रस हो, उसे 'शुभ रस' नाम कर्म कहते हैं।

तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा और मीठा। पांच रस में

मैं आया और इस जीव ने इसका भोग भी किया किन्तु समकित प्राप्त हुए बिना जीव का कार्य सिद्ध नहीं हुआ। अतः जीव को समकित की प्राप्ति के लिये उद्यम करना चाहिये।

॥ पुण्य तत्त्व समाप्त ॥

४ पाप तत्त्व

चारों गति में रहे हुए सभी सांसारिक जीव, प्रत्येक समय नये कर्म बांधते रहते हैं। उनमें अशुभ अध्यवसायों से जो कर्म बंधते हैं, वे पाप रूप होते हैं।

पाप—जो आत्मा को मलीन करे, जो बांधते समय तो सुखकारी, किंतु भोगते समय दुःखकारी, अशुभ योग से सुखपूर्वक बांधा जाय, दुःखपूर्वक भोगा जाय। पाप अशुभ प्रकृति है, जिसका फल कड़वा होता है। जो जीव को मैला करे उसे 'पाप' कहते हैं।

पाप कर्म अठारह प्रकार से बांधा जाता है। यथा—

१ प्राणातिपात—प्रमाद पूर्वक प्राणों का अतिपात करना अर्थात् आत्मा से प्राणों को पृथक् करना—प्राणातिपात (हिंसा) है।

२ मृषावाद—झूठ बोलना। जैसे—यह कहना कि—आत्मा, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि नहीं है। तथा आत्मा सर्व व्यापी है, ईश्वर जगत का कर्ता है। कटु सत्य कहना जिससे सुनने वाले को दुःख हो—मृषावाद है, जैसे—काने को काना कहना, चोर को चोर कहना, कोढ़ी को कोढ़ी कहना आदि।

मूर्च्छा, ममत्वभाव एवं तृष्णा अर्थात् असन्तोषरूप आत्मा के परिणाम विशेष को 'लोभ' कहते हैं।

१० राग–माया और लोभ जिसमें अप्रकट रूप से विद्यमान हो, ऐसा आसक्तिरूप जीव का परिणाम 'राग' कहलाता है।

११ द्वेष–क्रोध और मान जिसमें अप्रकट रूप से हो ऐसा अप्रीतिरूप जीव का परिणाम 'द्वेष' है।

१२ कलह–लड़ाई झगड़ा करना।

१३ अभ्याख्यान–प्रकटरूप से अविद्यमान दोषों का आरोप लगाना (झूठा आल देना)।

१४ पैशुन्य–पीठ पीछे किसी के दोष प्रकट करना (चाहे उसमें हों या न हों)।

१५ पर-परिवाद–दूसरे की बुराई करना, निन्दा करना।

१६ रति-अरति–अनुकूल विषयों के प्राप्त होने पर मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में जो आनन्द रूप परिणाम उत्पन्न होता है वह 'रति' है और प्रतिकूल विषयों में अरुचि–उद्वेग हो वह 'अरति' है।

१७ मायामृषावाद–माया (कपट) पूर्वक झूठ बोलना मायामृषावाद है। दो दोषों के संयोग से यह पाप-स्थानक माना गया है।

१८ मिथ्यादर्शन-शल्य–श्रद्धा का विपरीत होना मिथ्यादर्शन है। जैसे–शरीर में चुभा हुआ शल्य सदा कष्ट देता है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन भी आत्मा को दुःखी बनाये रखता है, इसलिए इसे 'शल्य' कहा है।

दूसरा कोई ज्ञान नहीं। लोकालोक की संपूर्ण रूपी अरूपी वस्तु को जानने वाला केवलज्ञान कहलाता है। उसका जो आवरण करे उसे 'केवल ज्ञानावरणीय' कहते है।

दर्शनावरणीय की ९ प्रकृतियाँ

१ चक्षु दर्शनावरणीय—चक्षु (आंख) से पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे 'चक्षुदर्शन' कहते हैं। उसका आवरण करने वाला 'चक्षुदर्शनावरणीय' कहलाता है।

२ अचक्षु दर्शनावरणीय—श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्शन और मन के सम्बन्ध से शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे 'अचक्षु-दर्शन' कहते हैं। उसका आवरण करने वाला 'अचक्षु दर्शनावरणीय' कहलाता है।

३ अवधि दर्शनावरणीय—इन्द्रियों की सहायता के बिना ही रूपी द्रव्य का जिससे सामान्य बोध होता है, उसे 'अवधिदर्शन' कहते हैं। उसका आवरण करने वाला 'अवधि दर्शनावरणीय' है।

४ केवल दर्शनावरणीय—संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जिससे सामान्य अवबोध होता है, उसे 'केवल-दर्शन' कहते हैं. उसका आवरण करने वाला 'केवल दर्शनावरणीय' है।

५ निद्रा—सोया हुआ मनुष्य जरा-सी खटखटाहट से या आवाज से जाग जाता है, उस नींद को 'निद्रा' कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी नींद आवे, उस कर्म को 'निद्रा' कहते हैं।

निद्रानिद्रा—जोर से आवाज देने पर या देह हिलाने से जो मनुष्य कठिनाई से जागता है, उसकी नींद को 'निद्रानिद्रा' कहते हैं।

से मर्कटबन्ध और उन पर लपेटा हुआ पट्टा हो (लेकिन कील न हो) उसे 'ऋषभ-नाराच संहनन' कहते हैं।

१० नाराच संहनन–दोनों ओर केवल मर्कटबन्ध हो वह 'नाराच संहनन' है।

११ अर्द्ध नाराच संहनन–एक ओर मर्कटबन्ध हो और दूसरी ओर खीला हो, उसे 'अर्द्ध-नाराच संहनन' कहते हैं।

१२ कीलिका संहनन–मर्कटबन्ध न होकर केवल कीलों से ही हड्डियें जुड़ी हुई हों।

१३ छेवट्ठ (सेवार्त्त)–खीला न होकर केवल हड्डियें परस्पर जुड़ी हुई हों।

१४ न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान–वटवृक्ष को 'न्यग्रोध' कहते हैं। उसका ऊपरी भाग जैसा अति विस्तार युक्त सुशोभित होता है, वैसा नीचे का भाग नहीं होता। उसी प्रकार नाभि के ऊपर का भाग विस्तृत हो और नाभि से नीचे का भाग वैसा न हो, उसे 'न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान' कहते हैं।

१५ सादि संस्थान–जिस संस्थान में नाभि के नीचे का भाग पूर्ण हो और ऊपर का भाग हीन हो।

१६ कुब्ज संस्थान–जिस शरीर में हाथ, पैर, सिर गर्दन आदि अवयव ठीक हों, परन्तु छाती पेट, पीठ आदि टेढ़े हों।

१७ वामन संस्थान–जिस शरीर में छाती, पीठ, पेट आदि अवयव पूर्ण हों, परन्तु हाथ, पैर आदि अवयव छोटे हों।

१८ हुण्डक संस्थान–जिस शरीर के समस्त अवयव बेढब हों।

८ मायाप्रत्ययिकी-झूठे लेख आदि द्वारा दूसरों को ठगने से जो क्रिया लगती है।

९ मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी-वीतराग भगवान् के वचनों से विपरीत श्रद्धान तथा अश्रद्धान को 'मिथ्यात्व' कहते हैं। उससे लगने वाली क्रिया को 'मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया' कहते हैं।

१० अप्रत्याख्यानिकी-त्याग-पच्चक्खाण न करने से जो क्रिया लगती है।

११ दृष्टिकी-रागद्वेष से कलुषित चित्तपूर्वक किसी जीव या अजीव पदार्थ को देखने से जो क्रिया लगती है।

१२ स्पृष्टिकी-रागादि से कलुषित चित्तपूर्वक स्त्री आदि के अंगों का स्पर्शन करने से जो क्रिया लगती है। अथवा मलिन भावना से जो प्रश्न किया जाता है, उसे 'स्पृष्टिकी क्रिया' कहते हैं।

१३ प्रातीत्यिकी (पाडुच्चिया)-दूसरों के वैभव (हाथी, घोड़े, आभूषण आदि) देख कर राग-द्वेष करने से।

१४ सामन्तोपनिपातिकी-अपने वैभव की प्रशंसा सुन कर प्रसन्न होने से अथवा घी, तेल आदि के पात्र खुले रखने से उसमें संपातिम जीव गिर कर विनाश को प्राप्त होते हैं, इससे जो क्रिया लगती है।

१५ नैशस्त्रिकी-राजा आदि की आज्ञा से यन्त्रों द्वारा कुएँ, तालाब आदि से पानी निकाल कर बाहर फेंकने से, क्षेपणी (गोफण) आदि द्वारा पत्थर आदि फेंकने से, स्वार्थवश योग्य शिष्य को या पुत्र को बाहर निकाल देने से, शुद्ध एषणीय भिक्षा होने

हो ऐसे माया तथा लोभपूर्वक व्यवहार करने से होनेवाली ।

२४ द्वेष प्रत्यया-खुद क्रोध करने से अथवा दूसरे को क्रोध उत्पन्न कराने से या अभिमान करने से जो क्रिया लगती है ।

२५ ईर्यापथिकी-उपशांत मोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली-इन ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में रहे हुए वीतराग महामुनि को केवल योग के कारण से जो सातावेदनीय कर्म बन्धता है, उसे 'इर्यापथिकी क्रिया' कहते हैं । यह क्रिया पहले समय में बँधती है, दूसरे समय में वेदी जाती है और तीसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है ।

आश्रव के ५७ भेद भी होते हैं । वे इस प्रकार हैं-५ मिथ्यात्व, १२ अव्रत, २५ कषाय और १५ योग ।

पांच मिथ्यात्व ये हैं-आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक ।

बारह अव्रत-पांच इन्द्रियों तथा मन को वश में न रखने से और छह काया की दया-अनुकम्पा न करने से तथा व्रत पच्चक्खाण न करने से आश्रव होता है ।

पच्चीस कषाय-क्रोध, मान, माया और लोभ-इन चार के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन के भेद से सोलह भेद होते हैं । हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद-ये नौ 'नोकषाय' कहलाते हैं ।

योग पन्द्रह-मन, वचन, काया के व्यापार को 'योग' कहते हैं । इनमें मन के चार, वचन के चार और काया के सात, इस प्रकार कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं ।

॥ आश्रव तत्त्व समाप्त ॥

गुप्ति–मन वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना और शुभ प्रवृत्ति करना 'गुप्ति' कहलाता है। गुप्ति के तीन भेद हैं–

१ मन गुप्ति–आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी संकल्प न करना, परलोक में हितकारी धर्म-ध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना, मध्यस्थ भाव रखना, शुभ, अशुभ योगों को रोक कर योग-निरोध अवस्था में होनेवाली अन्तरात्मा की अवस्था प्राप्त करना 'मन गुप्ति' है।

२ वचन गुप्ति–वचन के अशुभ व्यापार अर्थात् संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी वचन का त्याग करना, विकथा न करना और मौन रहना 'वचन गुप्ति' है।

३ काय गुप्ति–खड़ा होना, बैठना, उठना, सोना आदि कायिक प्रवृत्ति न करना, यतनापूर्वक काया की प्रवृत्ति करना एवं अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना 'काय गुप्ति' है।

परीषह बाईस है, वे इस प्रकार हैं।

१ क्षुधा परीषह–भूख का परीषह। साधु की मर्यादानुसार एषणीय आहार जब तक न मिले, तब तक ग्रहण न करके भूख सहन करना।

२ पिपासा परीषह–जब तक निर्दोष अचित्त जल न मिले, तब तक प्यास सहन करना।

३ शीत परीषह–ठण्ड का परीषह–कितनी भी कड़ी ठण्ड क्यों न पड़ती हो तो भी अपने पास मर्यादित और परिमित वस्त्र हो उन्हीं से अपना निर्वाह करना, अकल्पनीय वस्त्र तथा अग्नि-

काय का आरम्भ करने-कराने की मन से भी इच्छा न करना और समभावपूर्वक शीत को सहन करना।

४ उष्ण परीषह–अत्यन्त गर्मी पड़ती हो, तो भी स्नान की इच्छा न करना, छाता धारण न करना, पंखा एवं वस्त्रादि से हवा न करना और गर्मी को समभावपूर्वक सहन करना।

५ दंश-मशक परीषह–डांस, मच्छर, खटमल आदि के काटने पर जो वेदना होती है, उसे समभावपूर्वक सहन करना, वेदना के भय से उस स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाने की इच्छा न करना, उनको भगाने के लिए धूंए आदि का प्रयोग भी न करना और न किसी से कराना।

६ अचेल परीषह–आगमोक्त साधु की मर्यादानुसार जितने वस्त्र रखने की आज्ञा है, उतने ही वस्त्र रखना, बहुमूल्य वस्त्र न रखना, जो कुछ साधारण या पुराने वस्त्र हों, उनमें संतोष करना।

७ अरति परीषह–मन में अरति अर्थात् उदासी से होने वाला कष्ट। स्वीकृत संयम-मार्ग में कठिनाइयाँ आने पर उसमें मन न लगे और उसके प्रति अरति उत्पन्न हो, तो धैर्यपूर्वक उसमें मन लगाते हुए अरति को दूर करना।

८ स्त्री परीषह–स्त्रियों के अंग, उपांग, आकृति, हास्य, कटाक्ष आदि पर ध्यान न देना, विकार दृष्टि से उनकी ओर न रखना, ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहना, यह स्त्री+ परीषह है (यह परीषह अनुकूल परीषह है)।

+ इसी प्रकार स्त्रियों के लिए 'पुरुष परीषह' समझना चाहिये।

में चाहे जितना मैल संचित हो जाय तो मन में खेदित न होना तथा स्नान की इच्छा नहीं करना।

१९ सत्कार-पुरस्कार परीषह—लोकसमुदाय द्वारा तथा राजा-महाराजाओं की ओर से स्तुति-नमस्कार एवं आदर-सत्कार होने पर अपने मन में अभिमान न लाना और आदर-सत्कार न पाने से मन मे खेदित न होना (यह अनुकूल परीषह है)।

२० प्रज्ञा परीषह—प्रखर विद्वत्ता होने पर भी अभिमान न करना तथा अल्प ज्ञान होने पर भी शोक न करना, किन्तु ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा रखना।

२१ अज्ञान परीषह—बहुत परिश्रम करने पर भी ज्ञान न चढ़े, तो खिन्न न होना, किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म का उदय समझ कर अपने चित्त को शान्त रखना।

२२ सम्यक्त्व परीषह—अनेक कष्ट, उपसर्ग आने पर भी जिनेश्वर-भाषित धर्म से विचलित न होना। शास्त्रीय सूक्ष्म अर्थ समझ में न आवे तो उदासीन होकर विपरीत भाव न लाना तथा अन्य मतावलम्बियों के चमत्कार एवं आडम्बर देख कर मोहित न होना।

श्रमणधर्म के दस भेद इस प्रकार हैं—

१ क्षमा—क्रोध पर विजय प्राप्त करना। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति रखना।

२ मार्दव—मान का त्याग करना। जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, तप, ज्ञान, लाभ और बल—इन आठों में से किसी का मद न करना।

'संवर' है। संवर द्वारा नये कर्मों का आगमन रुक जाता है और आत्मा निर्विघ्न रूप से मुक्ति की ओर बढ़ता रहता है, एवं अन्त में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार संवर भावना का चिन्तन करने वाला आत्मा संवर क्रियाओं में रुचि रखने लगता है और संवर क्रियाओं का आचरण करता हुआ सिद्धि-पद का अधिकारी होता है। संवर भावना हरिकेशी मुनि ने भाई थी।

९ निर्जरा भावना—संवर भावना द्वारा जीव नवीन कर्मों के आगमन को रोकने वाली क्रियाओं का चिन्तन करता है, परन्तु जो कर्म आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उन्हें कैसे नष्ट किया जाय, यह चिन्तन निर्जरा भावना द्वारा किया जाता है। संसार की हेतुभूत कर्म-सन्तति का क्षय करना 'निर्जरा' है। निर्जरा भावना का चिन्तन अर्जुन अनगार ने किया था।

१० लोक भावना—लोक के संस्थान का विचार करना 'लोक भावना' है। कमर पर दोनों हाथ रखकर और दोनों पैरों को फैला कर खड़े हुए पुरुष की आकृति के समान यह लोक है। जिस में धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य भरे हुए हैं। इस प्रकार लोक-भावना का चिन्तन करने से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है और मन अन्य बाह्य विषयों से हट कर स्थिर हो जाता है। मानसिक स्थिरता द्वारा अनायास ही आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति होती है। लोक-भावना शिवराजर्षि ने भाई थी।

११ बोधिदुर्लभ भावना—बोधि का अर्थ है 'ज्ञान'। बोधि का अर्थ 'सम्यक्त्व' भी किया जाता है। कहीं बोधि शब्द का

निरतिचार छेदोपस्थापनीय–इत्वर सामायिक वाले शिष्य के एवं तीर्थंकर के तीर्थ से दूसरे तीर्थंकर के तीर्थ में जाने वाले साधुओं के जो व्रतों का आरोहण होता है, वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है। इसे 'बड़ी दीक्षा' कहते हैं। यह सात दिन बाद, चार महीने बाद और उत्कृष्ट छह महीने बाद दी जाती है।

सातिचार छेदोपस्थापनीय–मूलगुणों का घात करने वाले साधु के जो व्रतों का आरोपण होता है, वह 'सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र' है।

३ परिहार-विशुद्धि चारित्र–जिस चारित्र में परिहार तप विशेष से कर्मनिर्जरा रूप शुद्धि होती है उसे 'परिहार-विशुद्धि चारित्र' कहते हैं। अथवा परिहार-विशुद्धि चारित्र के दो भेद हैं–१ निर्विश्यमानक और २ निर्विष्ट कायिक।

तप करने वाले पारिहारिक साधु निर्विश्यमानक कहलाते हैं और उनका चारित्र 'निर्विश्यमान परिहार-विशुद्धि चारित्र' कहलाता है।

तप करके वैयावच्च करने वाले आनुपारिहारिक साधु तथा तप करके गुरु पद पर रहा हुआ साधु निर्विष्ट कायिक कहलाते हैं और उनका चारित्र 'निर्विष्टकायिक परिहार-विशुद्धि चारित्र' कहलाता है।

४ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र–सम्पराय का अर्थ 'कषाय' होता है। जिस चारित्र में सूक्ष्म-सम्पराय अर्थात् संज्वलन लोभ का का सूक्ष्म अंश रहता है, उसे 'सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र' कहते हैं।

द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद हैं–उपकरण द्रव्य-ऊनोदरी और भक्त-पान द्रव्य-ऊनोदरी। उपकरण द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद हैं–एक पात्र, एक वस्त्र और जीर्ण-उपधि। भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी के सामान्यत: पांच भेद हैं–१ आठ कवल (ग्रास) प्रमाण आहार करना अल्पाहार पीन ऊनोदरी है। २ बारह कवल प्रमाण आहार करना उपार्द्ध उनोदरी है। ३ सोलह कवल प्रमाण आहार करना अर्द्ध ऊनोदरी है। ४ चौबीस कवल प्रमाण आहार करना पाव ऊनोदरी है। ५ इकत्तीस कवल प्रमाण आहार करना किंचित् ऊनोदरी है और पूरे बत्तीस कवल प्रमाण आहार करना 'प्रमाणोपेत आहार' कहलाता है।

भाव ऊनोदरी–क्रोध, मान, माया और लोभ में कमी करना, अल्प शब्द बोलना, कषाय के वश होकर भाषण न करना तथा हृदय में रहे हुए कषाय को शान्त करना 'भाव ऊनोदरी' है। इसके सामन्यत: छह भेद हैं–१ अल्प क्रोध, २ अल्प मान, ३ अल्प माया, ४ अल्प लोभ, ५ अल्प शब्द और ६ अल्प झञ्झ (कलह)।

भिक्षाचर्या–विविध प्रकार का अभिग्रह लेकर भिक्षा का संशोधन करते हुए विचरना 'भिक्षाचर्या' तप है। सामान्यत: इसके तीन भेद हैं–

द्रव्य–किसी द्रव्य विशेष का अभिग्रह लेकर भिक्षाचर्या करना।

क्षेत्र–स्वग्राम और पर-ग्राम से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना।

से आहारादि लेना ।

पृष्ट-लाभिक–'हे मुनि ! आपको किस वस्तु की आवश्यकता है ?' इस प्रकार प्रश्न पूछने वाले दाता से आहारादि की गवेषणा करना ।

अपृष्ट लाभिक–किसी प्रकार का प्रश्न नहीं पूछने वाले दाता से ही आहारादि की गवेषणा करना ।

भिक्षा लाभिक–रूखे-सूखे तुच्छ आहार की गवेषणा करना ।

अभिक्षा लाभिक–सामान्य आहार की गवेषणा करना ।

अन्नग्लायक–अन्न के बिना ग्लानि पाना अर्थात् अभिग्रह विशेष के कारण प्रातःकाल ही आहार की गवेषणा करना ।

औपनिहितक–निकट रहने वाले दाता से आहारादि की गवेषणा करना ।

परिमित-पिण्डपातिक–परिमित आहारादि की गवेषणा करना ।

शुद्धैपणिक–शंकादि दोष रहित शुद्ध ऐषणापूर्वक कूरा आदि तुच्छ अन्नादि की गवेषणा करना ।

संख्यादत्तिक–बीच में धार न टूटते हुए एक बार में जितना आहार या पानी पात्र में गिरे उसे 'दत्ति' कहते हैं । ऐसी दत्तियों की संख्या का नियम करके भिक्षा की गवेषणा करना ।

उववाई सूत्र में इनका विस्तृत वर्णन एवं भेद आदि दिये गये हैं । यहां आहार के विषय में कहा गया है, इसी प्रकार साधु के लिए संयमोपकारी सभी धर्मोपकरणों के विषय में यथायोग्य समझ लेना चाहिये ।

रसत्याग–विकारजनक दूध, दहीं, घी आदि विगयों का तथा प्रणीत (स्निग्ध और गरिष्ठ) खान पान की वस्तुओं का त्याग करना 'रस त्याग' है। जिव्हा के स्वाद को छोड़ना 'रस त्याग' है। इसके अनेक भेद हैं। किन्तु सामान्यत: नौ भेद हैं–

१ प्रणीतरस परित्याग–जिसमें घी आदि की बूंदे टपक रही हो ऐसे आहार का त्याग करना।

२ आयम्बिल–भात, उड़द आदि से आयम्बिल तप करना।

३ आयामसियभोजी–चावल आदि के पानी में पड़े हुए धान्य आदि का आहार करना।

४ अरसाहार–नमक, मिर्च आदि मसालों के बिना रस रहित आहार करना।

५ विरसाहार–जिनका रस चल गया हो, ऐसे पुराने धान्य या भात आदि का आहार करना।

६ अन्ताहार–जघन्य अर्थात् जो आहार बहुत गरीब लोग करते हैं, ऐसे चने-चबीने आदि खाना।

७ प्रान्ताहार–गृहस्थों के भोजन कर लेने के बाद बचा हुआ आहार लेकर खाना।

८ रूक्षाहार–बहुत रूखा-सूखा आहार करना। कहीं-कहीं 'रूक्षाहार' के स्थान 'तुच्छाहार' पाठ है, उसका अर्थ है तुच्छ, सत्त्वरहित, नि:सार आहार करना।

९ निर्विगय–तेल घी, गुड़ आदि विगयों से रहित आहार करना।

इस प्रकार रसपरित्याग के और भी अनेक भेद हो सकते

हैं। यहां नौ भेद ही दिये गये हैं।

कायाक्लेश—शास्त्रसम्मत रीति से शरीर को क्लेश पहुंचाना 'कायाक्लेश' तप है। उग्र वीरासनादि आसनों का सेवन करना, लोच करना, शरीर की शोभा-शुश्रूषा का त्याग करना आदि कायाक्लेश के अनेक भेद हैं। सामान्यतः इसके तेरह भेद इस प्रकार हैं–

१ स्थानस्थितिक—कायोत्सर्ग करके निश्चल बैठना।

२ स्थानातिग—आसन विशेष से बैठकर कायोत्सर्ग करना।

३ उत्कुटुकासनिक—उक्कडु आसन से बैठकर कायोत्सर्ग करना।

४ प्रतिमास्थायी—एक मासिकी पडिमा, दो मासिकी पडिमा आदि स्वीकार करके विचरना।

५ वीरासनिक—सिंहासन अर्थात् कुर्सी पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल देने पर जो अवस्था रहती है, वह 'वीरासन' कहलाता है। ऐसे आसन से बैठना।

६ नैषधिक—निषद्या (आसनविशेष) से भूमि पर बैठकर कायोत्सर्ग करना।

७ दण्डायतिक—लम्बे डण्डे की तरह भूमि पर लेट कर कायोत्सर्ग आदि करना।

८ लगण्डशायी—जिस आसन में पैरों की दोनों एड़ियाँ और सिर पृथ्वी पर लगे हों और शेष शरीर ऊपर उठा रहे, इस प्रकार की लकड़ी की तरह के आसन को 'लगण्ड आसन' कहते हैं। इस प्रकार के आसन से रह कर कायोत्सर्ग आदि तप करना।

९ आतपक–शीतकाल में शीत में बैठकर और उष्णकाल में सूर्य की प्रचण्ड धूप में बैठ कर आतापना लेना।

१० अपावृत्तक–खुले मैदान में आतापना लेना।

११ अकण्डूयक–शरीर को न खुजलाते हुए आतापना लेना।

१२ अनिष्ठीवक–निष्ठीवन (थूकना) आदि न करते हुए आतापना लेना।

१३ धुतकेशश्मश्रुलोम–दाढ़ी, मूंछ आदि के केशों को न सवारते हुए (अपने शरीर की विभूषा को छोड़कर) आतापना लेना।

इत्यादि प्रकार से कायाक्लेश के अनेक भेद हैं। अब प्रतिसंलीनता का वर्णन किया जाता है।

प्रतिसंलीनता–प्रतिसंलीनता का अर्थ है गोपन करना। इसके मुख्य रूप से चार भेद हैं–१ इन्द्रियप्रतिसंलीनता, २ कषायप्रतिसंलीनता, ३ योगप्रतिसंलीनता और ४ विविक्त शय्यासनता।

१ इन्द्रिय प्रतिसंलीनता इसके पांच भेद हैं, यथा–

१ श्रोत्रेन्द्रिय प्रतिसंलीनता–श्रोत्रेन्द्रिय को अपने विषयों की ओर जाने से रोकना। तथा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहित विषयों में रागद्वेष न करना। इसी प्रकार २ चक्षुरिन्द्रिय प्रतिसंलीनता, ३ घ्राणेन्द्रिय प्रतिसंलीनता, ४ रसनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता और ५ स्पर्शनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता।

२ कषाय प्रतिसंलीनता। इसके चार भेद हैं, यथा–

१ क्रोध प्रतिसंलीनता–क्रोध का उदय न होने देना तथा उदय में आये हुए क्रोध को निष्फल बना देना। इसी प्रकार

४ अपव्रीडक–शर्म से अपने दोषों को छिपाने वाले शिष्य की शर्म को मीठे वचनों से दूर करके स्पष्ट आलोचना कराने वाला।

५ प्रकुर्वक–आलोचित अपराध का प्रायश्चित्त देकर दोषों की शुद्धि कराने में समर्थ।

६ अपरिस्रावी–आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला।

७ निर्यापक–अशक्ति या और किसी कारण से एक साथ पूरा प्रायश्चित्त लेने में असमर्थ साधु को थोड़ा-थोड़ा प्रायश्चित्त देकर निर्वाह करने वाला।

८ अपायदर्शी–आलोचना नहीं लेने में परलोक का भय तथा दूसरे दोष दिखाने वाला।

९ प्रियधर्मा-जिसको धर्म प्यारा हो।

१० दृढ़धर्मा–जो धर्म में दृढ़ हो।

प्रायश्चित्त लेने वाले साधु के दस गुण–

१ जाति सम्पन्न, २ कुल सम्पन्न, ३ विनय सम्पन्न, ४ ज्ञान सम्पन्न, ५ दर्शन सम्पन्न, ६ चारित्र सम्पन्न, ७ क्षमावान्, ८ दान्त, ९ अमायी और १० अपश्चात्तापी।

उपरोक्त दस गुणों से युक्त अनगार अपने दोषों की आलोचना करने योग्य होता है।

१ जाति सम्पन्न–उत्तम जाति (मातृपक्ष) वाला। उत्तम जाति वाला प्रथम तो बुरा काम करता ही नहीं, कदाचित् उससे भूल हो भी जाय, तो वह शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है।

२ कुल सम्पन्न—उत्तम कुल (पितृपक्ष) वाला। उत्तम कुल में उत्पन्न व्यक्ति लिए हुए प्रायश्चित्त को उत्तम रीति से पूरा करता है।

३ विनय सम्पन्न—विनयवान्।

४ ज्ञान सम्पन्न—ज्ञानवान्।

५ दर्शन सम्पन्न—श्रद्धालु।

६ चारित्र सम्पन्न—उत्तम चारित्रवाला।

७ क्षान्त—क्षमावान्। किसी दोष के कारण गुरु भर्त्सना या फटकार आदि मिलने पर भी वह क्रोध नहीं करता।

८ दान्त—इन्द्रियों को वश में रखने वाला।

९ अमायी—कपट रहित।

१० अपश्चात्तापी—आलोचना लेने के बाद जो पश्चात्ताप नहीं करता।

प्रायश्चित्त के दस दोष—१ आकम्पयित्ता, २ अणुमाणइत्ता, ३ दिट्ठं, ४ बायरं, ५ सुहुमं, ६ छण्णं, ७ सद्दालुअयं, ८ बहुजण, ९ अव्वत्त और १० तस्सेवी।

१ आकंपयित्ता—'प्रसन्न होने पर गुरुमहाराज थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे' यह सोचकर उन्हें सेवा आदि से प्रसन्न कर फिर उनके पास दोषों की आलोचना करे, तो आकम्पयित्ता दोष है।

२ अणुमाणइत्ता—बिल्कुल छोटा अपराध बताने से गुरु महाराज थोड़ा दण्ड देंगे, यह सोचकर अपने अपराध को बहुत छोटा करके बताना 'अणुमाणइत्ता' दोष है।

३ दिट्ठं (दृष्ट)—जिस अपराध को आचार्य आदि ने देख

लिया हो, उसी की आलोचना करना।

४ बायरं (बादर)—केवल बड़े-बड़े अपराधों की आलोचना करे और छोटे दोषों को छिपा लेना।

५ सुहुमं (सूक्ष्म)—जो अपने छोटे-छोटे अपराधों की भी आलोचना कर लेता है, वह बड़े अपराधों को कैसे छोड़ सकता है' यह विश्वास उत्पन्न कराने के लिए छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना।

६ छिण्णं (छिन्न)—अधिक लज्जा के कारण प्रच्छन्न (जहां कोई न सुन रहा हो एसे) स्थान पर आलोचना करना।

७ सद्दालुअयं (शब्दालु)—दूसरों को सुनाने के लिये जोर-जोर से बोलकर आलोचना करना।

८ बहुजन—एक ही दोष की बहुत से गुरुओं के पास आलोचना करना।

९ अवत्तव्य—अगीतार्थ (किस दोष के लिए कैसा प्रायश्चित्त दिया जाता है—ऐसा जिस साधु को ज्ञान नहीं हो, उस) के पास आलोचना करना।

१० तत्सेवी—जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष को सेवन करने वाले आचार्यादि के पास आलोचना करना।

उपरोक्त दोषों से रहित आचार्यादि के पास आलोचना करना चाहिये।

दोष प्रतिसेवना के दस कारण हैं—१ दर्प, २ प्रमाद, ३ अनाभोग, ४ आतुर, ५ आपत्ति, ६ संकीर्ण, ७ सहसाकार, ८ भय,

१० विमर्श–शिष्य की परीक्षा के लिए की गई संयम की विराधना।

इन दस कारणों से संयम में दोष लगता है और उस दोष की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। अतः संयम को दूषित करने वाले इन कारणों का त्याग करना चाहिए।

विनय तप–विनय के सामान्यतः सात भेद हैं–१ ज्ञान विनय, २ दर्शन विनय, ३ चारित्र विनय, ४ मन विनय, ५ वचन विनय, ६ काय विनय और ७ लोकोपचार विनय। इन सातों के अवान्तर भेद १३४ होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

ज्ञान विनय के पांच भेद हैं, यथा–ज्ञान तथा ज्ञानी पर श्रद्धा रखना, उनके प्रति भक्ति तथा बहुमान दिखाना, उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों पर अच्छी तरह विचार तथा मनन करना और विधिपूर्वक ज्ञान ग्रहण करना, ज्ञान का अभ्यास करना–ज्ञान विनय है। इसके पांच भेद हैं। यथा–मतिज्ञान विनय, श्रुतज्ञान विनय, अवधिज्ञान विनय, मनःपर्ययज्ञान विनय और केवलज्ञान विनय।

दर्शन विनय के ५५ भेद इस प्रकार हैं–देव अरिहन्त गुरु निर्ग्रन्थ और धर्म केवलीभाषित, इन तीन तत्त्वों में श्रद्धा रखना 'दर्शन' या 'सम्यक्त्व' कहलाता है। दर्शन का विनय, भक्ति और श्रद्धा 'दर्शन-विनय' है। इसके सामान्यतः दो भेद हैं–शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय। शुश्रूषा विनय के दस भेद हैं–

१ अभ्युत्थान–गुरु महाराज या अपने से बड़े रत्नाधिक

पधारते हों, तो उन्हें देखकर खड़े हो जाना । २ आसनाभिग्रह 'पधारिये, आसन अलंकृत कीजिये'–इस प्रकार कहना ३ आसन प्रदान–बैठने के लिए आसन देना । ४ सत्कार–सत्कार करना। ५ सम्मान–सम्मान देना । ६ कीर्ति कर्म–उनके गुणग्राम–स्तुति करना । ७ अञ्जलिप्रग्रह–हाथ जोड़ना । ८ अनुगमनता–वापिस जाते समय कुछ दूर तक पहुँचाने जाना । ६ पर्युपासनता–बैठे हों, तो उनकी उपासना करना । १० प्रति संसाधनता–उनके वचन को स्वीकार करना ।

अनाशातना विनय–दर्शन और दर्शनवान् की आशातना न करना अनाशातना विनय है । इसके पैंतालीस भेद हैं–१ अरिहन्त भगवान्, २ अरिहन्त प्ररूपित धर्म, ३ आचार्य,४ उपाध्याय, ५ स्थविर, ६ कुल, ७ गण, ८ संघ, ६ सांभोगिक, साधर्मिक, १० क्रियावान्, ११मति ज्ञानवान्, १२ श्रुतज्ञानवान्, १३ अवधि ज्ञानवान्, १४ मनः पर्यय ज्ञानवान् और १५ केवल ज्ञानवान् । इन १५ की आशातना न करके विनय करना, भक्ति करना और गुणग्राम करना । इन तीन कार्यों के करने से ४५ भेद हो जाते हैं ।

चारित्र विनय–चारित्र पर श्रद्धा करना, काया से उनका पालन करना तथा उनकी प्ररूपणा करना चारित्र विनय है । इसके पांच भेद हैं–१ सामायिक चारित्र विनय । २ छेदोपस्थापनीय चारित्र विनय । ३ परिहार-विशुद्धि चारित्र विनय । ४ सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र विनय । और ५ यथाख्यात चारित्र विनय ।

इन पांचों चारित्रधारियों का विनय करना चारित्र विनय

है ।

मन विनय–आचार्य आदि का मन से विनय करना । मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उसे शुभ प्रवृत्ति में लगाना मन विनय है । इसके दो भेद हैं-अप्रशस्त मन विनय और प्रशस्त मन विनय । अप्रशस्त मन विनय के १२ भेद हैं-सावद्य सक्रिय, सकर्कश, कटुक, निष्ठुर, परुष (कठोर) आश्रयकारी छेदकारी, भेदकारी, परितापनाकारी, उपद्रवकारी और भूतोपघातकारी । ये मन के अप्रशस्तभाव हैं । इन अप्रशस्त भावों को मन में नहीं आने देना–'अप्रशस्त मन विनय' है । उपरोक्त बारह भेदों से विपरीत प्रशस्त मन विनय के भी बारह भेद होते हैं । इस प्रकार मन विनय के २४ भेद होते हैं ।

वचन विनय–आचार्य आदि का वचन से विनय करना वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा शुभ प्रवृत्ति में लगाना मन विनय की तरह वचन विनय के भी २४ भेद होते हैं ।

काय विनय–काया से आचार्य आदि का विनय करना, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना और शुभ प्रवृत्ति करना । इसके दो भेद हैं–

प्रशस्त काय विनय और अप्रशस्तकाय विनय । प्रशस्त काय विनय के ७ भेद हैं–

१ आयुक्त गमन–सावधानीपूर्वक जाना ।

२ आयुक्त स्थान–सावधानी पूर्वक ठहरना ।

३ आयुक्तनिषीदन–सावधानी पूर्वक बैठना ।

४ आयुक्त त्वग्वर्तन- सावधानी पूर्वक लेटना ।

५ आयुक्त उल्लंघन–सावधानी पूर्वक उल्लंघन करना।

६ आयुक्त प्रलंघन–सावधानी पूर्वक बारबार लाँघना।

७ आयुक्त सर्वेन्द्रिय योग युंजनता–सभी इन्द्रियों और योगों की सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना।

अप्रशस्त काय-विनय के सात भेद हैं। ऊपर कही हुई सात बातों में,प्रमाद आदि से होती हुई असावधानी को रोकना–त्याग करना।

इस प्रकार काय विनय के ये चौदह भेद हुए।

लोकोपचार विनय–दूसरों को सुख पहुँचे, इस प्रकार की बाह्य-क्रियाएँ करना 'लोकोपचार विनय' कहलाता है। इसके सात भेद हैं–

१ अभ्यास वृत्तिता–गुरु आदि के पास रहना और अभ्यास में रुचि रखना।

२ परच्छन्दानुवर्तिता–गुरु आदि बड़ों की इच्छानुसार कार्य करना।

३ कार्यहेतु–उनके द्वारा किये हुए ज्ञानदानादि कार्य के लिए उन्हें विशेष मानना, उन्हें आहारादि ला कर देना।

४ कृत प्रतिक्रिया–अपने ऊपर किये हुए उपकार का बदला चुकाना अथवा 'आहार आदि के द्वारा गुरु की शुश्रूषा करने से वे प्रसन्न होंगे और उसके बदले में वे मुझे ज्ञान सिखावेंगे'–ऐसा समझकर उनकी विनयभक्ति करना।

५ आर्त्तगवेषणता–बीमार साधुओं की सार-सम्भाल करना।

६ देश कालानुज्ञता–अवसर देख कर कार्य करना।

और स्पर्श विषय और उनकी साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर, उनके वियोग का विचार करना तथा भविष्य में भी ऐसी वस्तुएँ नहीं मिले—ऐसी इच्छा रखना। इस आर्त्तध्यान का कारण द्वेष है।

२ मनोज्ञ संयोग चिन्ता—पाँचों इन्द्रियों के इच्छित विषय एवं उनके कारण रूप माता, पिता, भाई, स्वजन, स्त्री, पुत्र और धन तथा साता-वेदना के संयोग में उनका वियोग न हो जाय—ऐसा विचार करना तथा भविष्य में भी उनके संयोग की इच्छा करना। इसका मूल कारण 'राग' है।

३ रोग चिन्ता—किसी प्रकार का रोग होने पर उसे दूर करने की अथवा भविष्य में रोग न होने की चिन्ता करना।

४ निदान—देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के रूप और ऋद्धि आदि को देख कर या सुन कर उनकी प्राप्ति के लिए तप संयम को दाव पर लगाने का संकल्प करना।

आर्त्तध्यान के चार लिंग हैं—

१ आक्रन्दन—ऊँचे स्वर से रोना चिल्लाना।

२ शोचन—आँखों में आंसू ला कर दीनभाव लाना।

३ परिदेवना—बारबार क्लिष्ट भाषण करना, विलाप करना।

४ तेपनता—टपटप आंसू गिराना।

इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग और वेदना के निमित्त से ये चार चिन्ह होते हैं।

रौद्रध्यान—हिंसा, झूठ, चोरी, सम्बन्धी तथा धन आदि की रक्षा में मन को जोड़ना 'रौद्रध्यान' है। अथवा—हिंसा आदि

विपय का क्रूर परिणाम 'रौद्रध्यान' है। इसके चार भेद हैं-

१ हिंसानुवन्धी-प्राणियों को मारने, पीटने, बाँधने, जलाने और प्राणान्त करने का चिन्तन करना।

२ मृपानुवन्धी-दूसरों को ठगने, धोखा देने के अनिष्ट सूचक असभ्य, असत् प्रकाशन, सत्य का अपलाप आदि असत्य वचन एवं प्राणियों का उपघात करने वाले वचन कहने का चिंतन करना।

३ चौर्य्यानुवन्धी-तीव्र क्रोध और लोभ से चोरी करने का चिन्तन करना।

४ संरक्षणानुवन्धी-शब्दादि पाँच विषय के साधनभूत धन स्त्री आदि की रक्षा करने की चिन्ता करना।

हिंसा, झूठ, चोरी और संरक्षण स्वयं करना, दूसरों से करवाना और करते हुए की अनुमोदना करना तथा इन तीनों के विपय में चिन्तन करना।

रौद्रध्यान के चार लिंग (लक्षण) इस प्रकार हैं-

१ ओसन्न दोप-रौद्रध्यानी हिंसा से निवृत्त न होने से वहुलतापूर्वक हिंसादि में से किसी एक में प्रवृत्ति करता है।

२ वहुल दोप-रौद्रध्यानी हिंसादि सभी दोषों में प्रवृत्ति करता है।

३ अज्ञान दोष-अज्ञान से अधर्म स्वरूप हिंसादि में धर्मवुद्धि से प्रवृत्ति करना, अथवा नाना दोष-हिंसादि के विविध उपायों में अनेक वार प्रवृत्ति करना।

४ आमरणान्त दोष-मरण पर्यन्त हिंसादि क्रूर कार्यो का पश्चात्ताप न होना एवं हिंसादि में प्रवृत्ति करते रहना।

धर्मध्यान–धर्म के स्वरूप के पर्यालोचन में मन को एकाग्र करना। इसके चार भेद हैं।

१ आज्ञाविचय–भगवान् की आज्ञा को सत्य मानकर, श्रद्धा पूर्वक तत्त्वों का चिंतन मनन करते हुए एकाग्र होना।

२ अपाय विचय–राग, द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि पापों और उनके कुफल का चिंतन करना।

३ विपाक विचय–कर्म के शुभाशुभ फल विषयक चिन्तन करना। जैसे–शुद्ध आत्मा का स्वरूप ज्ञान, दर्शन, सुख आदि रूप है, फिर भी कर्मवश आत्मा के निजी गुण दबे हुए है। कर्मों के वश होकर आत्मा संसार में चारों गतियों में भ्रमण कर रही है। संपत्ति, विपत्ति, संयोग वियोग आदि से होने वाले सुख-दुःख तो जीव के पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का ही फल है। इस प्रकार कर्म विपाक चिन्तन मे मन को लगाना।

४ संस्थान विचय–लोक का स्वरूप, पृथ्वी, द्वीप, सागर, नरक, स्वर्ग आदि के आकार का चिंतन करना। लोक स्थिति, जीव की गति, आगति, जीवन, मरण आदि शास्त्रोक्त पदार्थों का चिन्तन करना तथा इस अनादि अनन्त संसार-सागर से पार करने वाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संवर रूप नौका का विचार करने में एकाग्र होना।

धर्मध्यान के चार लिंग इस प्रकार है–

१ आज्ञा रुचि–शास्त्रोक्त अर्थों पर रुचि रखना।

२ निसर्ग रुचि–किसी के उपदेश के बिना, स्वभाव से ही जिन भाषित तत्त्वों पर श्रद्धा होना।

३ सूत्र रुचि–सूत्रोक्त प्रतिपादित तत्त्वों पर श्रद्धा करना।

४ उपदेश रुचि–साधु के सूत्रानुसारी उपदेश से जो श्रद्धा होती है वह 'उपदेश रुचि' है।

तात्पर्य यह है कि तत्वार्थ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व ही धर्मध्यान का लिंग है।

जिनेश्वर देव एवं साधु-मुनिराज के गुणों का कथन करना, भक्ति पूर्वक उनकी प्रशंसा ओर स्तुति करना, गुरु आदि का विनय करना, दान देना, श्रुत, शील एवं संयम में अनुराग रखना, ये धर्मध्यान के चिन्ह हैं। इन से धर्मध्यानी पहिचाना जाता है।

धर्मध्यान रूपी प्रासाद पर चढ़ने के चार अवलम्वन हैं–

१ वाचना–निर्जरा के लिए शिष्य को सूत्रार्थ पढ़ाना।

२ पृच्छना–सूत्रार्थ में शंका होने पर उसका निवारण करने के लिए पूछना।

३ परिवर्त्तना–पहले पढ़े हुए सूत्रादि भूल न जाय, इसलिए उनकी आवृत्ति करना।

४ धर्मकथा–धर्मोपदेश देना।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ इस प्रकार हैं–

१ एकत्व भावना–"इस संसार में मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूं।" आत्मा के असहायपन की भावना करना एकत्व भावना है।

२ अनित्य भावना–संसार के सभी पदार्थों की अनित्यता का विचार करना।

३ अशरण भावना–संसार में दुःखों से वचाने वाला कोई

३ विवेक-शुक्लध्यानी आत्मा को देह से भिन्न और सभी संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता है।

४ व्युत्सर्ग-शुक्लध्यानी निस्संग रूप से देह और उपाधि का त्याग करता है।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं। इन से जीव शुक्लध्यान पर चढ़ता है।

१ क्षमा-क्रोध न करना, उदय में आये हुए क्रोध को विफल कर देना।

२ मार्दव-मान न करना, उदय में आये हुए मान को विफल कर देना।

३ आर्जव-माया को उदय में न आने देना एवं उदय में आई हुई माया को विफल कर देना। माया का त्याग आर्जव (सरलता) है।

४ मुक्ति-उदय में आये हुए लोभ को विफल करना।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) इस प्रकार हैं-

१ अनंत वर्तितानुप्रेक्षा-भव-परम्परा की अनंतता की भावना करना। जैसे-यह जीव अनादि काल से संसार में चक्कर लगा रहा है, समुद्र की तरह इस संसार के पार पहुँचना उसे दुष्कर हो रहा है। वह नरक तिर्यंच, मनुष्य और देव भवों में लगातार एक के बाद दूसरे में, बिना विश्राम के परिभ्रमण कर रहा है। इस प्रकार की भावना 'अनंत वर्तितानुप्रेक्षा' है।

२ विपरिणामानुप्रेक्षा-वस्तुओं के विविध परिणमन पर विचार करना। जैसे कि मनुष्य एवं देव आदि की ऋद्धियाँ

स्वर १३ प्रिय स्वर और १४ मनोज्ञ स्वर से।

अशुभ नामकर्म चार प्रकार से बँधता है—१ काया की वक्रता (वांकापन) २ वचन की वक्रता ३ मन की वक्रता और ४ विसंवाद योग सहितता से। यह चौदह प्रकार से भोगा जाता है—१ अनिष्ट शब्द २ अनिष्ट रूप ३ अनिष्ट गंध ४ अनिष्ट रस ५ अनिष्ट स्पर्श ६ अनिष्ट गति ७ अनिष्ट स्थिति ८ अनिष्ट लावण्य ९ अनिष्ट यशःकीर्ति १० अनिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम ११ हीन स्वर १२ दीन स्वर १३ अप्रिय स्वर और १४ अमनोज्ञ स्वर से।

७ गोत्र कर्म सोलह प्रकार से बँधता और सोलह प्रकार से भोगा जाता है। इसके दो भेद हैं—१ उच्च गोत्र और २ नीच गोत्र। उच्च गोत्र आठ प्रकार से बँधता है—१ जाति+ का मद (घमण्ड) न करने से २ कुल× का मद न करने से ३ बल का मद न करने से ४ रूप का मद न करने से ५ तपस्या का मद न करने से ६ श्रुत (ज्ञान) का मद न करने से ७ लाभ का मद न करने से और ८ ऐश्वर्य का मद न करने से। यह उच्च गोत्र आठ प्रकार से भोगा जाता है, अर्थात् इन आठ का मद न करे तो उच्च गोत्र पाता है।

नीच गोत्र कर्म आठ प्रकार से बँधता और आठ प्रकार से भोगा जाता है—पूर्वोक्त जाति-कुल-बल-रूप-तप-श्रुत-लाभ और ऐश्वर्य का घमण्ड करने से बँधता है और इनका घमण्ड करने

+ मातृपक्ष को 'जाति' कहते हैं।

× पितृपक्ष को 'कुल' कहते हैं।

से नीच गोत्र की प्राप्ति होती है।

८ अन्तराय कर्म पाँच प्रकार से बँधता और पांच प्रकार से भोगा जाता है। यह दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय डालने से बँधता है और इससे पाँचों अन्तरायों की प्राप्ति होती है।

कर्मों की स्थिति और आबाधा काल*

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। आबाधा काल ज. अं. मु. उ. तीन हजार वर्ष का है। साता-वेदनीय की ज. स्थिति इर्यापथिकी क्रिया की अपेक्षा दो समय की, सम्परा की अपेक्षा १२ मुहूर्त की और उ. पन्द्रह कोड़ीकोड़ी सागरोपम की है। आबाधा काल ज अं. मु. उ. डेढ़ हजार वर्ष का है। असातावेदनीय की ज. स्थिति एक सागर के सात भागों में से तीन भाग और पल्योपम से असंख्यात भाग कम की और उ. तीस कोडाकोडी सागरोपम की है। इसका आबाधा काल ज. अं. मु. उ. तीन हजार वर्ष का है। मोहनीय कर्म की ज. स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उ. सत्तर कोडाकोडी सागरोपम की है। आबाधा काल ज. अं. मु. उ. सात हजार वर्ष का है। नारकी तथा देवों के आयुकर्म की स्थिति ज. दस हजार वर्ष की, उ. तेतीस सागरोपम की। मनुष्य और तिर्यंच के आयु कर्म की ज. स्थिति अन्त-

---

* कर्मबन्ध होने के प्रथम समय से लेकर जब तक उस कर्म का उदय या उदीरणाकरण नहीं होता तब तक का काल 'आबाधा काल' कहलाता है।

मुहूर्त की, उ. तीन पल्योपम की। नामकर्म की ज. स्थिति आठ मुहूर्त की, उ. बीस कोडाकोडी सागरोपम की और आबाधाकाल ज. अंतर्मुहूर्त, उ. दो हजार वर्ष का है। गोत्रकर्म की ज. स्थिति आठ मुहूर्त की, उ. बीस कोडाकोडी सागरोपम की तथा आबाधा काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट दो हजार वर्ष का है।

॥ बन्ध तत्त्व समाप्त ॥

९ मोक्ष तत्त्व

मोक्ष—आत्मा का कर्मरूपी बन्धन से सर्वथा छूट जाना 'मोक्ष' है। आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों से सभी कर्मों का क्षय हो जाना 'मोक्ष' कहलाता है।

मोक्ष तत्त्व का विचार नौ द्वारों से किया जाता है—

१ सत्पद प्ररूपणा द्वार, २ द्रव्य-प्रमाण द्वार, ३ क्षेत्र द्वार, ४ स्पर्शना द्वार, ५ काल द्वार, ६ अन्तर द्वार, ७ भाग द्वार, ८ भाव द्वार और ९ अल्प-बहुत्व द्वार।

सत्पद प्ररूपणा द्वार का निम्न लिखित चौदह मार्गणाओं के द्वारा भी वर्णन किया जा सकता है;—

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार। ये चौदह मार्गणाएं हैं। इनके अवान्तर भेद ६२ होते हैं। यथा—गति ४, इन्द्रिय ५, काय ६, योग ३, वेद ३, कषाय ४, ज्ञान ८ (पांच ज्ञान तीन अज्ञान), संयम ७, (सामायिक चारित्र आदि पांच चारित्र, देशविरति

चारित्र और अविरति) दर्शन ४, लेश्या ६, भव्य २, (भव-सिद्धिक और अभवसिद्धिक) सम्यक्त्व ६, (औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, क्षायिक, मिश्र और मिथ्यात्व) संज्ञी २, (संज्ञी और असंज्ञी) आहारी २ (आहारी और अनाहारी) ये ६२ भेद होते हैं।

उपरोक्त चौदह मार्गणाओं में से अर्थात ६२ भेदों में से जिन-जिन भेदों (मार्गणाओं) से जीव मोक्ष जा सकते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं-

मनुष्य-गति, पंचेंद्रिय जाति, त्रसकाय, भवसिद्धिक, संज्ञी, यथाख्यात चारित्र, अनाहारक, केवलज्ञान और केवलदर्शन; इन दस मार्गणाओं से युक्त जीव मोक्ष जा सकता है। शेष चार मार्गणाओं (कषाय, वेद, योग, लेश्या) युक्त जीव मोक्ष नहीं जा सकता।

२ द्रव्य द्वार–सिद्ध जीव अनन्त हैं।

३ क्षेत्र द्वार–वे सभी सिद्ध जीव लोकाकाश के असंख्यातवें भाग में अवस्थित हैं।

४ स्पर्शना द्वार–सिद्ध भगवान् की जितनी अवगाहना है उससे स्पर्शना अधिक है। इसका कारण यह है कि जितने आत्म-प्रदेश हैं, अवगाहना तो उतनी ही रहेगी परन्तु अवगाहना के चारों ओर नीचे ऊपर आकाश-प्रदेश लगे हुए हैं, इसलिए अवगाहना से स्पर्शना अधिक है।

५ काल द्वार–एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव आदि-अनन्त हैं और सभी सिद्धों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं।

६ अन्तर द्वार–सिद्ध जीवों में अन्तर नहीं है, क्योंकि सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के बाद फिर वे संसार में आकर जन्म नहीं लेते ।

७ भाग द्वार–सिद्ध जीव, संसारी जीवों के अनन्तवें भाग हैं। संसारी जीव सिद्ध जीवों से अनन्त गुण अधिक हैं ।

८ भाव द्वार–औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इन पांच भावों में से सिद्ध जीवों में क्षायिक और पारिमाणिक–ये दो भाव पाये जाते हैं। केवलज्ञान-केवलदर्शन क्षायिक भाव में हैं और जीवत्व पारिणामिक भाव में है ।

९ अल्पबहुत्व द्वार–सब से थोड़े नपुंसक-लिंग सिद्ध हैं। स्त्रीलिंग-सिद्ध उनसे संख्यातगुण अधिक हैं और पुरुषलिंग-सिद्ध उनसे संख्यात गुण अधिक हैं। इसका कारण यह है कि नपुंसक एक समय में उत्कृष्ट दस मोक्ष जा सकते हैं, स्त्रीलिंग एक समय में उत्कृष्ट बीस और पुरुषलिंग एक समय में उत्कृष्ट १०८ मोक्ष जा सकते हैं ।

मनुष्य गति से ही जीव मोक्ष जा सकते हैं। नरकगति, तिर्यंचगति और देवगति से कोई भी जीव मोक्ष नहीं जा सकता ।

१ सब से थोड़े जीव चौथी नरक से निकल कर मनुष्य हो सिद्ध हुए ।
२ तीसरी नरक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यातगुण ।
३ दूसरी नरक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
४ वनस्पतिकाय से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
५ पृथ्वीकाय से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।

६ अप्काय से निकल कर मनुष्य हो सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
७ भवनपति देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
८ भवनपति देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
९ वाणव्यन्तर देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१० वाणव्यन्तर देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
११ ज्योतिषी देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१२ ज्योतिषी देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१३ मनुष्यिनी से सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१४ मनुष्य से सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१५ पहली नरक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१६ तिर्यंचिनी से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१७ तिर्यंच से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१८ अनुत्तरविमानवासी देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१९ नवग्रैवेयक देवलोकों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२० बारहवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२१ ग्यारहवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२२ दसवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२३ नौवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२४ आठवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२५ सातवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२६ छठे देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात

२७ पांचवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
२८ चौथे देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
२९ तीसरे देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
३० दूसरे देवलोक की देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
३१ दूसरे देवलोक के देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
३२ पहले देवलोक की देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
३३ पहले देवलोक के देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।

एक समय से आठ समय तक एक-एक से लेकर बत्तीस तक जीव मोक्ष जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पहले समय में जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट बत्तीस जीव सिद्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार दूसरे समय में, तीसरे, चौथे यावत् आठवें समय तक जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट बत्तीस जीव मोक्ष जा सकते हैं। आठ समयों के बाद निश्चित रूप से अन्तर पड़ता है।

तेतीस से लेकर अड़तालीस तक जीव निरन्तर सात समय तक मोक्ष जा सकते हैं। ऊनपचास से लेकर साठ तक जीव निरन्तर छह समय तक मोक्ष जा सकते हैं। इकसठ से बहत्तर तक जीव निरन्तर पांच समय तक, तिहत्तर से चौरासी तक निरन्तर चार समय तक, पिचासी से छ्यानवे तक निरन्तर तीन समय तक, सत्तानवें से एक सौ दो तक निरन्तर दो समय तक

और एक सौ तीन से लेकर एक सौ आठ तक जीव एक समय में मोक्ष जा सकते हैं, इसके पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है। दो तीन आदि समय तक निरन्तर उत्कृष्ट सिद्ध नहीं हो सकते।

इति मोक्ष तत्त्व समाप्त

नव तत्त्व जानने का लाभ–

जीवाइनवपयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणे वि सम्मत्तं ॥

जो जीवादि नव तत्त्वों को जानता है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है। जीवादि तत्त्वों को नहीं जानने वाले भी यदि शुद्ध अन्तःकरण से जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए नव तत्त्वों पर श्रद्धा रखते हैं, तो उन्हें भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यथा–

सव्वाइ जिणेसरभासियाइं वयणाइं णण्णहा हुंति।
इय बुद्धी जस्स मणे, सम्मत्तं णिच्चलं तस्स ॥

अर्थ–"जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए सभी वचन सत्य हैं"–ऐसी जिसकी बुद्धि हो, उसे निश्चय से सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

अंतोमुहुत्तमित्तं वि फासियं हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढपुग्गल–परियट्टो चेव संसारो ॥

अर्थ–जिन जीवों ने अन्तर्मुहूर्त्तमात्र भी समकित की स्पर्शना कर ली, उनको उत्कृष्ट अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता। वे अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन के भीतर ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन–

उस्सप्पिणी अणंता, पुग्गलपरियट्टो मुणेयव्वो ।

तेणंता तीअद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ।।

अर्थ–अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी बीत जाने पर एक पुद्गल परावर्तन होता है । इस तरह के पुद्गल परावर्तन अनन्त हो चुके हैं और अनन्त होने वाले हैं ।

भव्य जीव इन नव तत्त्वों का अभ्यास कर के श्री जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का सम्यक् श्रद्धान करें और विशुद्ध आचरणरूप सम्यक् चारित्र का पालन कर के मोक्ष पद प्राप्त करें । यही नव तत्त्वों को जानने का सार है ।

।। नव तत्त्व सम्पूर्ण ।।
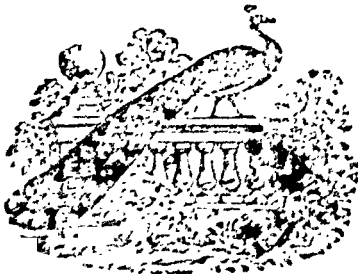
卐 संघ के प्रकाशन 卐

	मूल्य	पोस्टेज
१ मोक्षमार्ग ग्रंथ	अप्राप्य	
२ भगवती सूत्र भाग १	५–००	१–७०
३ भगवती सूत्र भाग २	५–००	१–७०
४ भगवती सूत्र भाग ३	५–००	१–७०
५ उत्तराध्ययन सूत्र	२–००	०–४०
६ उववाइय सुत्त	२–००	०–४५
७ जैन स्वाध्यायमाला	अप्राप्य	
८ दशवैकालिक सूत्र	१–२५	०–३५
९ अंतगडदसा सूत्र	१–००	०–२०
१० स्त्री प्रधान धर्म	०–२५	०–०५
११ सुखविपाक सूत्र	०–२०	०–०५
१२ प्रतिक्रमण सूत्र	०–१६	०–०५
१३ सामायिक सूत्र	०–०७	०–०५
१४ सूयगडांग सूत्र	अप्राप्य	
१५ सिद्धस्तुति	०–४०	०–१०
१६ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	१–००	०–२५
१७ नन्दी सूत्र	२–५०	०–५५
१८ आलोचना पंचक	०–१०	०–०५
१९ संसार-तरणिका	०–५०	०–१५
२० सम्यक्त्व विमर्श	१–००	०–३०
२१ आत्मसाधना संग्रह	१–२५	०–३५
२२ पच्चीस बोल का थोक	०–२५	०–१०
२३ लघुदण्डक	०–२०	०–०५
२४ महादण्डक	०–२०	०–०५
२५ तेतीस बोल	०–१५	०–०५
२६ १०२ बोल का बासठिया	०–०७	०–०५
२७ गुणस्थान स्वरूप	०–१६	०–०
२८ गति-आगति	०–०७	०–०५
२९ कर्म-प्रकृति	०–०८	०–०५